मेरा अंतिम आश्रय

श्रीमद्भगवद्गीता

भाई परमानंद

"राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान,
कलकत्ता के सौजन्य से प्राप्त।"

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक • प्रभात प्रकाशन
४/१९ आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-११०००२
संस्करण • 2003
सर्वाधिकार • सुरक्षित
मूल्य • दो सौ रुपए
मुद्रक • नरुला प्रिंटर्स, दिल्ली

MERA ANTIM ASHRAYA : SRIMADBHAGWAD
by Bhai Parmanand
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, N
ISBN 81-7315-380-9

प्रस्तावना

आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर अठारह अक्षौहिणी सेनाओं का जो विलोडन हुआ था, उसमें से श्रीमद्भगवद्गीता रूपी अमृत-कलश की प्राप्ति हुई। उसका तात्कालिक हेतु चाहे अर्जुन के मोह-अंधकार को दूर करना ही था, किंतु श्रीकृष्ण ने उसके रूप में मानव को जो प्रकाश-पुंज दिया, उसने इतिहास की इस दीर्घावधि में असंख्य हृदयों को सत्प्रेरणा दी है।

मध्यकाल के हुतात्माओं ने आत्मा की अमरता का साक्षात्कार 'गीता' से किया और आजादी की लड़ाई में क्रांतिकारियों के हाथों में भी गीता ही होती थी—जब वे फाँसी का फंदा चूमते थे। जिन श्रीकृष्ण ने बाल्यकाल में एक के बाद एक आततायियो को समाप्त करने का सिलसिला स्वयं अपने मामा कंस से प्रारंभ किया और अनाचार के एक-एक गढ़ को उखाड़कर फेंका—उनसे बड़ा क्रांति-प्रेरणा का साकार रूप और कौन होगा ? और उन्हीं के मुखारविंद से नि:सृत उपनिषदीय ज्ञान के इस कोष में योग, सांख्य, वैशेषिक, वेदांत आदि दर्शनों के अतिरिक्त भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग और कर्मयोग आदि उपासना के विभिन्न मार्गों की व्याख्या भी गीता ने की है। समस्त हिंदू शास्त्रों का निचोड़ इस छोटे से ग्रंथ में इतनी कुशलता से भरा गया है कि अनायास ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यै. शास्त्रविस्तरै: ।'

भाई परमानंदजी ने यह पुस्तक आजीवन कारावास का दंड भुगतते हुए अंडमान जेल में लिखी—जहाँ भाईजी को पुस्तकालय और लेखन सामग्री उपलब्ध होना तो दूर, कागज या पेंसिल का टुकड़ा पास रखना भी बहुत बड़ा अपराध था। जो कुछ उन्होंने लिखा, वह छिपाकर लिखा और छिपाकर रखा। यही नहीं, यह पुस्तक उस मन:स्थिति में से प्रकट हुई है, जब भाईजी संसार के मोह-बंधनो से लगभग मुक्त थे और करीब पाँच साल की यातना भरी कैद के बाद उन्होंने सोच

लिया था कि अब जीवित रहने का कोई प्रयोजन नहीं है।

यह पुस्तक सर्वप्रथम उर्दू में 'गीता के राज़' नाम से सन् १९२१ में प्रकाशित हुई थी। हिंदी रूपांतर का दूसरा संस्करण छह वर्षों से उपलब्ध नहीं था, यद्यपि इसकी माँग बराबर बनी हुई थी। इस संस्करण की विशेषता यह भी है कि 'गीता' में जिन श्लोकों का उल्लेख आया है और देश-विदेश के जिन विचारकों के अभिमत दिए गए हैं, उनके संदर्भ भी यथासंभव पाद-टिप्पणी के रूप में वर्णित हैं।

प्रस्तुत पुस्तक की यह भी एक विशेषता कही जा सकती है कि यह ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखी गई है जिसने गीता को जीया—अंत:करण से कर्तव्य की जो प्रेरणा उन्हें मिली उसका पालन करते हुए उन्होंने परिणामों की तनिक भी चिंता नहीं की।

जब-जब देश के भाग्याकाश पर विपदाओं के काले बादल छाए तब-तब भारतवासियों ने श्रीकृष्ण को पुकारा; जब भी अधर्म और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष का समय आया, देश की तरुणाई ने 'भगवद्गीता' से प्रेरणा प्राप्त की। हमें पूर्ण विश्वास है कि सुधी पाठकों द्वारा एवं सामान्य साहित्य जगत् में भी पुस्तक का सर्वत्र स्वागत होगा और हमें इससे जीवन-संघर्ष में अविचल डटे रहने की शिक्षा मिलेगी।

प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि की अशुद्धियाँ सुधारकर उसे मुद्रण के लिए तैयार करने के लिए अपने विद्वान् मित्र डॉ. रघुवीर प्रसाद गोस्वामी का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

राजभवन, भोपाल
१६.१२.०१

—भाई महावीर

दो शब्द

आज से सहस्रों वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर अठारह अक्षौहिणी सेनाओं का जो विलोडन हुआ था, उसमें से भगवद्‌गीता-रूपी अमृत कलश की प्राप्ति हुई थी। उसका तात्कालिक हेतु चाहे अर्जुन के मोह-अंधकार को दूर करना ही था, परंतु श्रीकृष्ण ने इसके रूप में मानव को जो प्रकाश-पुंज दिया, उसने इतिहास की इस दीर्घावधि में असंख्य हृदयों को सत्प्रेरणा दी है। हिंदू चिंतन को कई बार 'पलायनवादी' कहा जाता है। लोग समझते हैं कि इसमें पारलौकिक झुकाव है—संसार को माया मानकर उसका तिरस्कार सिखाया जाता है। निस्संदेह हिंदू धर्म में विचार-स्वातंत्र्य की जो परंपरा रही है, उसके कारण यहाँ सब प्रकार के मत-मतातरों और सिद्धांतों का विकास हुआ है; जिनमें भौतिकवादी भी हैं, निरीश्वरवादी भी, अद्वैत में आस्था रखनेवाले भी और तैंतीस कोटि देवताओं को माननेवाले भी। परंतु हमारे ऐतिहासिक महामानवों में जिनका व्यक्तित्व सबसे अधिक संपूर्ण था, उन श्रीकृष्ण के जीवन को देखें तो वह प्रारंभ से अंत तक उस कर्मयोग की एक अमर गाथा है, जिसकी व्याख्या स्वयं उन्होंने 'गीता' में की है। इसलिए जब-जब देश के भाग्याकाश पर विपदाओं के बादल आए तब-तब भारत संतान ने श्रीकृष्ण को पुकारा; जब भी अधर्म और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष का समय आया, देश की तरुणाई ने भगवद्‌गीता से प्रेरणा प्राप्त की। 'गीता' को पढ़कर लोग जीवन-संघर्ष से भागे नहीं।

यह केवल संयोग नहीं है कि मध्यकाल की हुतात्माओं ने आत्मा की अमरता का साक्षात्कार 'गीता' से किया और अंग्रेजी युग के क्रांतिकारियों के भी हाथों में तब प्राय: 'गीता' ही होती थी, जब वे जाकर फाँसी की डोरी को चूमते थे। जिस श्रीकृष्ण ने शैशवकाल में एक के बाद एक आततायी को समाप्त करने का सिलसिला स्वयं अपने मामा से प्रारंभ किया और अनाचार के एक-एक गढ़

को उखाड़कर फेंका, उससे बड़ा क्रांति-प्रेरक कौन होगा? परंतु गीता केवल यही नहीं है, व्यासजी ने सारे हिंदू शास्त्रों का निचोड़ इस छोटे से ग्रंथ में इतनी कुशलता से भरा है कि अनायास ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।' योग, सांख्य, वैशेषिक, वेदांत आदि दर्शनों के अतिरिक्त भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग आदि उपासना के विभिन्न मार्गों की व्याख्या भी गीता ने की है, परंतु उसकी सबसे बड़ी विशेषता संभवतः वह बल है, जो उसने कर्मयोग पर दिया है। इसलिए दूसरे शास्त्रों की चर्चा अथवा व्याख्या जहाँ एकांत में बने तपोवनों अथवा पर्वतों की गुफाओं में बैठे मनीषियों का विषय रही है वहाँ भगवद्गीता के कर्मक्षेत्र ने स्थितप्रज्ञों को आकृष्ट किया है, अनेक कर्मयोगियों ने उसकी व्याख्या भी की है।

इस युग में लोकमान्य तिलक के महान् ग्रंथ 'गीता रहस्य' से कौन परिचित नहीं है! भाई परमानंदजी की प्रस्तुत पुस्तक का जन्म भी मानो कर्मक्षेत्र के ठीक भँवर में हुआ।

'गीता रहस्य' और वर्तमान पुस्तक में एक और बात भी समान है। उसे लोकमान्य ने अपने निर्वासन काल, मांडले जेल, में लिखा था। इसे भाईजी ने आजन्म कारावास का दंड भुगतते हुए अंडमान जेल में लिखा। वहाँ भाईजी को न कोई पुस्तकालय उपलब्ध था, न लेखन सामग्री मिलने का ही कोई नियम था। कागज या पेंसिल का टुकड़ा पास रखना बहुत बड़ा अपराध था। जो कुछ उन्होंने लिखा, वह छिपकर लिखा और छिपाकर रखा। उस समय उनकी मनःस्थिति क्या थी, इस विषय में उन्होंने 'आप-बीती' अथवा 'कालेपानी के कारावास की कहानी' नामक अपनी आत्मकथा में संकेत दिया है। उन्हें फाँसी की सजा सुनाई जा चुकी थी, पर यह कुछ पता न था कि फाँसी कब दी जाएगी। वे लिखते हैं—

'उस समय न संसार के साथ कोई प्यार था, न जीवन के साथ स्नेह; परंतु एक बात थी, जिसके कारण अभी संसार में कुछ समय रहने की लालसा थी। वह थी महायुद्ध का तमाशा देखने की इच्छा। मुझे कई बार खयाल आया कि कहीं यह जीवन का प्यार ही तो नहीं, जो दूसरा नाम लेकर प्रकट होता है और मन में तुच्छ सा भाव पैदा कर देता है।

'महाभारत के युद्ध से संबंध रखनेवाली एक कथा मुझे इस विषय पर शांति देती थी। वह है ऋषि बभ्रुवाहन की कथा*, जिसे टेसु महाराज बनाकर पूजा जाता

* जो इस पुस्तक के अंतिम परिच्छेद में उन्होंने दी है।

है। वह मेरे मन की अवस्था को पूरी तरह प्रकट करती है महाभारत का युद्ध होने वाला था। एक ऋषि धनुष-बाण लिये जा रहे थे। श्रीकृष्ण को पता लगा तो ब्राह्मण के वेश में उससे जा मिले। पूछा, 'कहाँ जा रहे हैं?' उत्तर मिला, 'युद्ध का तमाशा देखने।'

'तो यह धनुष-बाण हाथ में क्यों लिया है?'

'युद्ध में जो पक्ष निर्बल होगा, उसकी सहायता करूँगा।'

'इस धनुष की शक्ति क्या है?' श्रीकृष्ण ने पूछा।

सामने एक पेड़ था। ऋषि ने एक बाण चलाया। उसके प्रत्येक पत्ते में छेद हो गए। कृष्ण सोच में पड़ गए कि जब कौरव हारने लगेंगे तो यह उनकी ओर हो जाएगा और बड़ा बलवान् शत्रु सिद्ध होगा। बोले, 'आप इतने बलवान् हैं। कुछ दान करने की शक्ति भी रखते हैं?'

'माँगो, जो माँगना है।' ऋषि ने उत्तर दिया।

श्रीकृष्ण ने पहले वचन लिया और फिर कहा, 'अपना सिर काटकर दे दो।'

ऋषि ने कुछ दुःख का भाव प्रकट किया।

कृष्ण ने चिढ़ाया, 'क्या सिर देने से डर लग रहा है? साहस न हो तो वचन तोड़ दो।'

ऋषि ने कहा, 'डर की बात नहीं है। मुझे केवल युद्ध का तमाशा देखने की इच्छा है।'

अंत में यह तय हुआ कि सिर को काटकर किसी ऊँचे स्थान पर रख दिया जाए, जहाँ से युद्ध का सारा दृश्य दिखाई दे।

यदि यह इच्छा एक निर्भय ऋषि के हृदय में काम कर सकती थी तो मेरे तथा मेरे साथियों के मन में यह भाव कोई कायरता अथवा जीवन के साथ किसी अनुचित लगाव का लक्षण नहीं था।

फाँसी की सजा बदलकर कालापानी कर दी गई। वहाँ की अपनी मनःस्थिति का चित्रण भाईजी ने इन शब्दों में किया है—

'रात के बारह-तेरह घंटे अकेले संसार में बिताने पड़ते हैं। मुझे यह समय जेल के जीवन में सबसे अच्छा और आनंदमय प्रतीत होता था, यद्यपि साधारण लोग इसे बहुत घबरानेवाला कहते थे।...इसके अतिरिक्त अकेले बैठकर ध्यान करने और अपनी आत्मिक उन्नति करने का बहुत ही अच्छा अवसर था। हृदय की अवस्था ऐसी थी कि वह संसार की वासनाओं के जाल से सर्वथा मुक्त थी। बस, एक पुस्तक मेरे पास थी—भगवद्गीता। केवल उसी को मैं पढ़ता था। और जब उसके

कुछ अध्याय कठस्थ हो गए तो उसको भी खोलना और पढना बद कर दिया एक श्लोक जो बार-बार याद आता था, उसमे श्रीकृष्ण ने कहा है, जो सब प्राणियो के लिए रात्रि है, उसमें योगी जागता है और जब प्राणी जागते हैं, वह उसे रात्रि देखता है।' जिसे साधारण लोग सबसे बुरी और बड़ी कैद समझते थे, उसमें—अँधेरे में—अकेले में बंद रहना पड़ता है, मैंने सचमुच माया के जाल से मुक्त होने का अवसर उसमें पाया। न कोई कामना थी, न कोई आशा। ये दो ही जंजीरें आत्मा को संसार से बाँधती थीं। मुझे यह देखने का अवसर मिला था कि उनमें से कौन सी जंजीर शेष है और उसे किस तरह तोड़ा जा सकता है। जब हजारों जंजीरें हों तो मनुष्य किस-किस को तोड़े? थोड़ी रह जाने पर ही उन्हें तोड़ने का यत्न हो सकता है। इस प्रकार यह कैद मेरे लिए एक बार तो मुक्ति का कारण बन गई।'

यही नहीं, एक और दृष्टि से यह छोटी सी पुस्तक उस मन:स्थिति मे से प्रकट हुई है, जब भाईजी संसार के बंधनों से लगभग मुक्त थे। विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था, इसलिए जिस 'तमाशे' को देखने के लिए वे जीना चाहते थे, उसका पटाक्षेप हो चुका था। फलतः उन्होंने अपने जीवन को समाप्त करने का निश्चय किया। परंतु भाग्य ने ऐसी करवट बदली कि वे मुक्त होकर भारत माता की सेवा के लिए लौट आए।

यह पुस्तक सर्वप्रथम उर्दू में 'गीता के राज़' नाम से सन् १९२१ में प्रकाशित हुई थी। हिंदी में इसका पहला संस्करण 'गीता अमृत' था, जो उसके बाद छपा। उसके बाद दूसरा संक्षिप्त रूपांतर श्री धर्मवीरजी ने तैयार किया, जो सरस्वती सीरीज में 'मेरे अंत समय के विचार' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। देश-विभाजन के बहुत पहले वे संस्करण समाप्त हो चुके थे। विभाजन के पश्चात् तो पुस्तक बिलकुल दुर्लभ हो गई, जबकि इसकी माँग निरंतर बनी हुई है।

इस संस्करण की एक विशेषता यह है कि मूल ग्रंथ में जिन श्लोकों का उल्लेख आया है, वे साथ-साथ पाद-टिप्पणी के रूप में दिए गए हैं। यह प्रयत्न भी किया गया है कि जिन लेखकों या विचारकों का उल्लेख लेखक ने किया है, उनका सदर्भ यथासंभव दिया जाए। खेद है कि यत्न के बाद भी समयाभाव और अन्य कठिनाइयों के कारण कुछ संदर्भों की खोज पूरी नहीं हो पाई। यह कमी अगले संस्करण में दूर करने का प्रयास किया जाएगा।

संदर्भों के बारे में एक बात और है। यह तथ्य सामने आया कि लेखक ने किसी विचारक से जिस मत का उल्लेख किया, वह उसके संपूर्ण ग्रंथ में व्याप्त है, परंतु किसी एक पृष्ठ और पंक्ति में वह ऐसे रूप में नहीं है कि उसका हवाला दिया

जा सके इस कठिनाई का हल यह सोचा गया कि दर्शनशास्त्र के इतिहास के लिए किसी प्रामाणिक ग्रंथ का उल्लेख स्रोत के रूप में कर दिया जाए और रुचि रखनेवाले पाठकों के लिए लेखकों की रचनाओं की सूची अलग से भी दे दी जाए। ऐसा ही किया गया है। जहाँ किसी अन्य स्रोत ग्रंथ का नाम नहीं दिया गया वहाँ फ्रैंक थिल्बी की प्रसिद्ध पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी' समझी जानी चाहिए। दर्शनशास्त्र से संबद्ध संदर्भों की खोज और समस्या के पूर्वोक्त हल के लिए इंस्टीट्यूट ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट (ईवनिंग) स्टडीज में इस विषय के अध्यक्ष प्रो सत्यवान पं. कनल का मैं ऋणी हूँ।

लेखक के विस्तृत अध्ययन और ग्रहण-शक्ति का अनुमान इसी से लगता है कि श्री कनल के संदर्भों की सूची पर दृष्टि डालने के बाद मैंने साश्चर्य पूछा था कि क्या भाईजी का विषय इतिहास नहीं था? और जब मैंने उनकी इस जानकारी को सही बताने के बाद उन्हें यह सुनाया कि यह पुस्तक तब लिखी गई थी जब वहाँ कोई पुस्तकालय उपलब्ध होना तो दूर, कागज या पेंसिल भी पास में होना एक बड़ा अपराध था, तो वे चकित रह गए।

संस्कृत ग्रंथों के संदर्भ खोजने में सहायता करने के लिए डी.ए.वी. कॉलेज में अपने सहयोगी श्री नित्यानंद शर्मा को भी धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य बनता है।

प्रथम हिंदी संस्करण 'गीता अमृत' की प्रति बहुत यत्न के बाद एक सज्जन के अनुग्रह से मिली थी। मूल उर्दू पुस्तक की प्रति उपलब्ध करने के लिए श्री अजायब राय मेहता और 'मेरे अंत समय के विचार' की प्रति के लिए श्री सत्यपाल खन्ना धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है, पुस्तक का स्वागत होगा।

—भाई महावीर

प्राक्कथन

अंडमान जेल में सन् १९१५ से '२० तक रहते हुए ये नोट याददाश्त के तौर पर रखे गए। यह विचार-क्रम बार-बार मेरे मन से गुजरता था। दो मास के अनशन के कारण मेरा खयाल था कि कालापानी में ही मेरा शरीर-त्याग होगा। इसलिए उसके बाद यदि ये नोट किसी योग्य मनुष्य के हाथ पड़ जाएँगे तो वह इन्हें छपवाकर प्रकाशित कर देगा। समय ने रंग बदला और स्वयं मुझे ही इनको प्रकट करने का अवसर मिल गया। मैंने इनके अंदर कोई परिवर्तन करना उचित नहीं समझा और ज्यों-के-त्यों पाठकों के सामने रख दिए हैं। एक प्रकार से ये विचार मेरे अंत समय के हैं। तब मैं समझ बैठा था कि अब दुनिया से मेरा कोई संबंध कभी न होगा।

लाहौर

—भाई परमानंद

अनुक्रम

परिच्छेद	शीर्षक	पृष्ठ सं.
पहला	भगवद्‌गीता और उसका रचयिता	१७
दूसरा	श्रीकृष्ण	२३
तीसरा	ज्ञान की सापेक्षता	३०
चौथा	अंतिम तत्त्व	४२
पाँचवाँ	सृष्टि-उत्पत्ति : दैवी विकास	५१
छठा	भौतिक सृष्टि	६२
सातवाँ	मानसिक विकास	७५
आठवाँ	सामाजिक विकास	८५
नौवाँ	देवासुर संग्राम	९५
दसवाँ	राजयोग	१०४
ग्यारहवाँ	ज्ञान-मार्ग	११२
बारहवाँ	भक्ति-मार्ग	११८
तेरहवाँ	कर्म-मार्ग	१२६
चौदहवाँ	मत-मतांतर	१३६
पंद्रहवाँ	सिद्धांत	१४५
सोलहवाँ	आत्म-स्वतंत्रता	१५५
सत्रहवाँ	धर्म और अधर्म	१६६
अठारहवाँ	कर्तव्य	१७८
ग्रंथकार तथा ग्रंथ-सूची		१९७

पहला परिच्छेद

भगवद्गीता और उसका रचयिता

भगवद्गीता की ओर मेरा ध्यान

अपना विद्यार्थी जीवन समाप्त करने के बाद मुझे यह खयाल हुआ कि वह कौन सी पुस्तक है, जिसे मैं अपने स्वाध्याय के लिए हर समय अपने साथ रख सकता हूँ। कार्लाइल की लिखी किताब 'सारटर रिसार्टस' ने मेरे दिल पर इतना गहरा असर डाला कि मैंने उसे अपना साथी बना लिया। कुछ समय गुजर गया। अब मुझे यह बात पढ़ने का मौका मिला कि अमेरिका का एकमात्र प्रसिद्ध दार्शनिक एमर्सन एक बार कार्लाइल से मिलने गया। विदा के समय कर्लाइल ने एमर्सन को भगवद्गीता की एक प्रति उपहारस्वरूप भेंट की। इस घटना ने मेरे अंदर परिवर्तन उत्पन्न किया। मैंने 'सारटर रिसार्टस' को अलग रख दिया और उसकी जगह 'भगवद्गीता' को अपने साथ कर लिया।

भगवद्गीता की सर्वप्रियता

हिंदू जाति का बच्चा-बच्चा भगवद्गीता के नाम से परिचित है। भारत में इस पुस्तक के जितने संस्करण छपे हैं उतने शायद किसी और के नहीं छपे होंगे। यहाँ जितना अध्ययन इसका किया जाता है उतना किसी और का शायद ही किया जाता हो। आर्य जाति के पुराने विद्वानों में कोई विरला ही ऐसा होगा, जिसने भगवद्गीता पर अपनी टीका न लिखी हो। देश की विभिन्न भाषाओं में भगवद्गीता पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं। विदेशी भाषाओं में शायद ही कोई ऐसी हो, जिसमें भगवद्गीता का अनुवाद विद्यमान न हो।

मुसलमानों में भगवद्गीता का सम्मान

मुसलमानों में बुखारा का राजकुमार अलबरूनी ऐसा पहला व्यक्ति था, जिसका ध्यान भगवद्गीता की तरफ गया। उसे महमूद गजनवी ने कैद कर रखा था। हिरासत में रखने के लिए वह उसे हिंदुस्तान पर आक्रमणों के समय भी अपने साथ लिये रहता। अलबरूनी ने युद्धकाल में बड़ी कठिनाइयों के बाद संस्कृत का अध्ययन किया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत', जो तात्कालिक हिंदुस्तान का एक चित्र है, में उसने भगवद्गीता के कई श्लोक उद्धृत किए हैं। उसने आध्यात्मिक दृष्टि से इसे बड़ी उच्च कोटि की और पवित्र पुस्तक बताया है।

दाराशिकोह और भगवद्गीता

मुगलकाल में अकबर के आदेश से फैजी ने भगवद्गीता का अनुवाद फारसी भाषा में किया। दाराशिकोह ने इसका नाम 'सरे अकबर' रखा और भूमिका में भगवद्गीता तथा महर्षि व्यास के संबंध में ये विचार प्रकट किए—

'सचाई का मार्ग बतलानेवाली, हक को पहचाननेवाली, मारफत से भरी हुई, गहरे भेदों को खोलनेवाली, एकता दिखानेवाली, आनंददायिनी यह कृति विलक्षण मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी स्वामी व्यासजी की है। व्यासजी का गुणानुवाद करना वाणी और लेखनी की शक्ति से बाहर है। संसार का प्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून, जो अरब तथा यूनान के दार्शनिकों का शिरोमणि है, विभिन्न विद्याओं का मर्मज्ञ होने पर भी ज्ञान की दृष्टि से तन्मीम हिंदी के तुच्छ शिष्यों में से एक था। तन्मीम हिंदी का इतना बड़ा दार्शनिक था कि अफलातून ने परिपूर्णता से भरे उसके गुणों का वर्णन अपनी कलम से किया है। यह तन्मीम हिंदी स्वामी व्यास के अनुगामी वर्ग में से एक था। स्वामी व्यास के बड़प्पन का अनुमान इस एक बात से ही लगाया जा सकता है।'

पश्चिम पर भगवद्गीता का प्रभाव

भगवद्गीता और उपनिषदों के फारसी अनुवाद जब यूरोप में पहुँचे, तब यूरोप के दार्शनिक इनको पढ़कर आश्चर्यचकित हो गए। प्रसिद्ध दर्शनवेत्ता श्लेगल भगवद्गीता को पढ़कर वज्द में आ गया और इसकी प्रशंसा करने लगा। शापनहावर और मत्सीनी या मेजिनी के विचारों पर भगवद्गीता का गहरा असर हुआ। एमर्सन का गुरु थोरो भगवद्गीता का भक्त बन गया। उसने एक स्थान पर कहा है, 'मैं प्रतिदिन भगवद्गीता के पवित्र जल में स्नान करता हूँ। वर्तमान काल की कृतियों से

यह कहीं बढ़-चढ़कर है। जिस काल में यह लिखी गई वह सचमुच ही निराला समय रहा होगा।'

भगवद्‌गीता का विषय

यदि भगवद्‌गीता के विषय का अध्ययन और उसका मुकाबला हिंदू शास्त्रों से किया जाय तो स्पष्ट दीख पड़ता है कि इसके रचयिता ने इसे लिखने में लगभग सभी आर्य शास्त्रों से सहायता ली है। वेदांत, सांख्य, योग आदि सभी दर्शनों और वेदों की झलक इसके श्लोकों में साफ पाई जाती है। उपनिषदों के तो कई शब्द एव वाक्य इसमें दोहराए गए हैं। इसके रचयिता ने हिंदू-साहित्य तथा दर्शन के सार को सक्षेप में एक जगह एकत्र कर दिया है। इसीलिए पुराण में यह कहा गया है—'सभी उपनिषद् गौएँ हैं, अर्जुन बछड़ा है, श्रीकृष्ण दूध दुहनेवाले हैं और भगवद्‌गीता अमृत-रूपी दूध है।'* यदि कोई आदमी हिंदू संस्कृति के समुद्र—धर्म, साहित्य और दर्शन—को एक कूजे के अंदर बंद देखना चाहे तो वह भगवद्‌गीता पढ़ ले। यदि शेष सभी शास्त्र नष्ट हो गए होते और केवल भगवद्‌गीता ही रह जाती, तो भी हिंदू जाति के बड़प्पन की स्मृति दुनिया में कायम रहती। हिंदू सभ्यता इस समय इसमें यहाँ तक सुरक्षित है कि भगवद्‌गीता का प्रचार या विनाश हिंदू धर्म का प्रसार या विनाश है। सच ही कहा गया है कि वैदिक धर्म के कल्पवृक्ष का पका हुआ अमृत-रूपी फल भगवद्‌गीता है।

भगवद्‌गीता और स्वामी दयानंद

आधुनिक भारत के एक बड़े विद्वान् स्वामी दयानंद ने भगवद्‌गीता को यह पद नहीं दिया। विचार करने पर मालूम होता है कि उनके ऐसा न करने का खास कारण है। उनके जीवन में एक ही भाव काम करता है—वैदिक धर्म की रक्षा। स्वामी दयानंद को वेदों से इतना प्रेम था कि जब कोई चीज उन्हें इसके रास्ते में बाधक मालूम देती तो वे उसे अलग कर देते। दूसरे, हर युग में हिंदू आचार्यों ने भगवद्‌गीता का आश्रय लेकर अपने-अपने विचारों का प्रचार करने का प्रयत्न किया है। इन्हीं मत-मतांतरों के झगड़े के समय नवीन वेदांत की नींव पड़ी। प्रकट रूप में भगवद्‌गीता भी नवीन वेदांत को सहायता देती मालूम पड़ती है। स्वामी दयानंद इन मत-मतांतरों और नवीन वेदांत की शिक्षा को जाति के धार्मिक एवं नैतिक पतन के

---

* सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

लिए उत्तरदायी समझते थे। इस कारण उन्होंने भगवद्गीता की भी उपेक्षा की।

भगवद्गीता और वेद

वेद के बारे में भगवद्गीता के विचार परस्पर विरोधी मालूम पड़ते हैं। कई स्थलों पर, उदाहरणार्थ—अध्याय तीन के श्लोक १५[१] में, अध्याय सात के श्लोक ८[२] में और अध्याय पंद्रह तथा सत्रह में भी—वेद को ब्रह्म और ब्रह्म से ही पैदा हुआ बतलाया गया है। लेकिन अध्याय दो के श्लोक ४२[३], ४५[४], ४६[५], ५३[६] आदि में वेद को पीछे छोड़कर आगे जाने की शिक्षा दी गई है। इस प्रकट विरोध का दूर होना तभी संभव है, जब हम यह समझ लें कि महाभारत के काल से पहले ही 'वेद' शब्द के प्रयोग में भिन्नता आ गई थी। उस समय न केवल संहिता को ही 'वेद' कहा जाता था, बल्कि ब्राह्मण ग्रंथों, सूत्र ग्रंथों आदि के लिए भी 'वेद' शब्द प्रयुक्त किया जाता था। इन ग्रंथों में विशेष रीतियाँ पूरी करके उनसे विशेष फल प्राप्त करने पर जोर दिया गया है। भगवद्गीता के अध्याय दो में इनको ही 'वैदिक विधियों' कहकर इनके कर्मकांड को निचला दरजा दिया गया है।

भगवद्गीता की विशेषता

स्वामी दयानंद ने वैदिक धर्म की नींव केवल संहिता पर रखी है। संहिता या वेद को आर्य ऋषि आरंभ से ही स्वत:प्रमाण और भ्रांतिरहित मानते चले आए हैं। स्वामी दयानंद ने इस कारण वेद-धर्म की रक्षा के लिए फिर उन्हीं का आश्रय लिया। इस सिद्धांत की सत्यता एवं स्वामी दयानंद के उद्देश्य की पवित्रता में कोई संदेह नहीं हो सकता। फिर भी अब ऐसा समय मालूम होता है कि यह प्रश्न उठाया

---

१ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

२ रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो:।
प्रणव: सर्ववेदेषु शब्द: खे पौरुषं नृषु॥

३ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित:।
वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन:॥

४ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

५ यावानर्थ उदपाने सर्वत:संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत:॥

६ श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

जाय कि क्या संहिता या वेद वैदिक धर्म के बचाव एवं प्रसार के लिए वह काम कर सकते हैं, जो अन्य मज़हबों के ग्रंथ क्रियात्मक रूप से उनके लिए कर रहे हैं ? यदि कोई चाहे कि एक पुस्तक स्थायी धार्मिक जीवन उत्पन्न करे तो इसके लिए पुस्तक की सचाई ही काफी नहीं है, बल्कि हर एक मनुष्य के लिए उसका अध्ययन करना आवश्यक है। वेदों की भाषा बहुत कठिन है। उनकी व्याख्याएँ भी शायद उतनी ही कठिन हैं। अभी तक वेदों का कोई ऐसा प्रामाणिक अनुवाद नहीं हुआ, जो जनसाधारण के हाथ में दिया जा सके। शुरू से लेकर आज तक हमें कुछ ही नाम ऐसे मिलते हैं, जो 'वेदों के जाननेवाले' कहे जा सकते हैं। इसके लिए आर्यसमाज का आधी सदी का प्रयत्न हमें इस परिणाम पर पहुँचाता है कि आम लोगों के लिए वेदों का अध्ययन करना और समझना असंभवप्राय है। वेद तो खोज की उन पुस्तकों के तौर पर रहे हैं, जिनका अध्ययन विशेष मनुष्यों के लिए सीमित मालूम होता है।

विदेशी जातियों के लिए भगवद्‌गीता

यदि विदेशों में वेद धर्म के प्रसार का खयाल हो तो वहाँ के लोगों के हाथों मे स्वाध्याय के लिए एक धर्म-पुस्तक का देना आवश्यक है। जब हम भारत में वेदों के पढ़नेवाले इतने कम पाते हैं, तब दूसरे देशों में स्वाभाविक रूप से उनको समझनेवालों के होने की आशा स्वाभाविक रूप से कम हो जाती है। कुछ आर्यसमाजी स्वामी दयानंदकृत 'सत्यार्थप्रकाश' को इस उद्‌देश्य के लिए पेश करते हैं; परंतु वे इस बात को भूल जाते हैं कि 'सत्यार्थप्रकाश' का एक बड़ा भाग केवल भारत से संबंध रखता है, जिसमें विदेशियों को कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। इसके मुकाबले पर भगवद्‌गीता की स्थिति देखिए। इसके अंदर एक विशेष सौंदर्य और आकर्षण पाया जाता है। विदेशों में ऐसे बहुत से स्त्री-पुरुष मिलते हैं, जिनको समस्त भगवद्‌गीता कंठस्थ है। इस कारण यह कहना अनुचित नहीं है कि भगवद्‌गीता वह धर्म-पुस्तक है, जिससे आर्य धर्म के विस्तार में काम लिया जा सकता है। जाति की जाति इसे अपना धर्मग्रंथ स्वीकार करती है। इसके अतिरिक्त चूँकि इसमें वैदिक ज्ञान का इत्र, जैसाकि ऋषि-मुनि और दार्शनिक लोग मानते चले आए हैं, मौजूद है। इसलिए इसे एकमत होकर आर्य धर्म की प्रामाणिक पुस्तक कहना उचित है।

भगवद्‌गीता, बाइबिल और महाभारत

भगवद्‌गीता की अति पवित्र शिक्षा बाइबिल की शिक्षा से मिलती है, इस कारण कुछ पश्चिमी विद्वानों का विचार है कि भगवद्‌गीता बाइबिल के आधार पर लिखी गई है। यह बिलकुल वैसा ही व्यवहार है जैसा कुएँ के अंदर उत्पन्न हुए एक

मेढक ने समुद्र की उस मछली से किया, जो बाढ़ आने पर उस कुएँ में आ गिरी थी। मेढक ने पूछा, 'समुद्र कितना बड़ा है?' मछली ने उत्तर दिया, 'बहुत बड़ा।' अपनी जगह से जरा पीछे हटकर मेढक ने उससे सवाल किया, 'क्या वह इतना बड़ा है?' मछली ने जवाब दिया, 'नहीं, वह बहुत बड़ा है।' तब वह थोड़ा और पीछे हट गया और फिर पूछने लगा। इस प्रकार वह थोड़ा-थोड़ा परे होता और बार-बार वही सवाल दोहराता रहा। यहाँ तक कि वह कुएँ के दूसरे किनारे तक जा पहुँचा। जब मछली ने कहा, 'नहीं, वह इससे भी बड़ा है।' तब वह घबराकर कहने लगा, 'यह सभव नहीं। दुनिया में इससे बड़ा कुछ हो ही नहीं सकता।'

भगवद्गीता जैसी पुस्तक अचानक उग नहीं सकती। इससे पूर्व शतकों की बौद्धिक उन्नति का होना आवश्यक है। जब तक उपनिषदों और हिंदू दर्शनों की 'फिलॉसफी' विद्यमान न हो तब तक भगवद्गीता नहीं लिखी जा सकती। इसके अतिरिक्त इसकी व्याख्या करनेवाले दृष्टांत महाभारत में ही मिल सकते हैं, न कि तौरेत के किस्से-कहानियों में। इसलिए भगवद्गीता की शिक्षा केवल गंगातट पर ही संभव थी, न कि दजला और फरात की भूमि में।

भगवद्गीता का रचयिता

महाभारत की कथा में भगवद्गीता एक चमकते हीरे के समान है। महाभारत के रचयिता निस्संदेह व्यास ऋषि थे। भगवद्गीता के ज्ञान का उपदेश चाहे उनकी बौद्धिक शक्ति का फल है, चाहे सचमुच श्रीकृष्ण ने ही उसे अर्जुन को दिया, इस बात पर बहस करना सर्वथा निरर्थक है। इससे भगवद्गीता के गौरव में कोई अंतर नहीं पड़ता। वह गौरव स्वयं भगवद्गीता के अंदर ही पाया जाता है। अध्याय अठारह के श्लोक ७५* में संजय कहता है, 'इस प्रकार श्री व्यास की कृपा से श्रीकृष्ण की यह उत्तम वार्त्ता मैंने सुनी। इसको मैं जितना याद करता हूँ उतना ही गहरे आनंद में डूब जाता हूँ।'

परंतु यदि श्री व्यास ने इसे स्वयं लिखकर श्रीकृष्ण के मुख से ही सुनना उचित समझा तो यह बात कि श्री व्यास जैसे ऋषि भी धर्म के तत्त्वज्ञान का प्रचार श्रीकृष्ण के नाम से ही कराना उचित एवं आवश्यक समझते थे। गीता श्रीकृष्ण की विद्वत्ता और बड़प्पन को मानवी सीमा से कहीं आगे ले जाती है।

□

* व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयत- स्वयम्॥

दूसरा परिच्छेद

श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण का जन्म

श्रीकृष्ण का जन्म मथुरा के पवित्र बंदीगृह में हुआ। वहाँ उनके माता-पिता को उनके मामा कंस ने कैद कर रखा था। मथुरा के नृशंस राजा कंस ने न केवल अपने पिता उग्रसेन बल्कि अन्य निकट संबंधियों, जिनसे उसे कभी डर हो सकता था, को भी कैद में डाल रखा था। जिस दिन श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, उसी रात उनके पिता वसुदेव पहरेदारों की असावधानी या उपेक्षा के कारण शिशु कृष्ण को यमुना के पार अपने गोप मित्र नंद के यहाँ छोड़ आए और उनके यहाँ से एक नवजात कन्या को लाकर उन्होंने श्रीकृष्ण के स्थान पर रख दिया। कंस ने अगले दिन सवेरे उस कन्या को मरवा दिया। बाद में संदेह हो जाने पर बालक कृष्ण को ढूँढ़ने और उनको मरवाने के लिए कंस ने काफी कोशिशें कीं। इनकी कहानियाँ लोगों के दिलों को मोहित करनेवाली, परंतु बहुत कवित्वपूर्ण भाषा में कही गई हैं।

श्रीकृष्ण का बाल्यकाल और यौवन

श्रीकृष्ण ज्यों-ज्यों बड़े होते गए त्यों-त्यों उनकी बुद्धि, सुंदरता और उनका वंशी-वादन गोकुल के गोपों तथा गोपियों के दिलों को अपनी ओर आकृष्ट करता गया। श्रीकृष्ण के साथ गोपियों के प्रेम और बचपन की रास-लीलाओं को कुछ लोगों ने अश्लील रूप में प्रकट किया है। ऐसे ही जैसे विषय में फँसा हुआ आदमी निर्दोष लड़के-लड़कियों के पारस्परिक प्रेम और खेल का चित्र अपने पापी मन पर अंकित कर लेता है। मथुरा के गोप भी श्रीकृष्ण पर इतने मुग्ध थे कि

युवा होते श्रीकृष्ण उन लोगो के नेता तुल्य बन गए उन्हे अपने आप और अन्य लोगों को कंस के अत्याचार से बचाने का कोई अन्य उपाय नजर नहीं आया तो उन्होंने ग्वाल साथियों की छोटी सी सेना इकट्ठी की और मथुरा पर आक्रमण करके कंस का वध अपने हाथ से कर दिया। मथुरा का राजपाट कंस के पिता उग्रसेन को सौंप दिया गया। कंस के ससुर जरासंध, जो मगध का राजा था, ने अपने जामाता की मृत्यु का बदला लेने के लिए मथुरा पर आक्रमण कर दिया। कई लड़ाइयों में तो श्रीकृष्ण उसकी सेना का मुकाबला करते रहे, लेकिन बहुत दिनों तक लड़ते-लड़ते और अपने आपको शक्तिशाली शत्रु के मुकाबले में सफल न होते देखकर उन्होंने मथुरा को छोड़ने का निश्चय कर लिया। तब उन्होंने अपने साथियों को दूर ले जाकर सागर तट पर द्वारका नगर बसाया और एक नए राज्य की नींव डाली।

श्रीकृष्ण और पांडव

इसी समय हस्तिनापुर में पांडवों और कौरवों का झगड़ा शुरू हुआ। इसके मूल में उस ईर्ष्या का बीज था, जो वर्तमान काल तक भी राजपूतों, मराठों, सिखो आदि के इतिहास में बराबर फलता हुआ नजर आता है। युधिष्ठिर आदि पाँच पांडव भाई विभिन्न कलाओं में ऐसे निपुण थे कि उनकी ख्याति देखकर उनके चचेरे भाई कौरव, जिनका मुखिया दुर्योधन था, ईर्ष्या की अग्नि में जलने लगे। उसने हर तरह से कोशिश की कि पांडव भाइयों के जीवन का अंत कर दे, यहाँ तक कि एक विशेष प्रकार का महल बनवाकर उसमें उनकी माता कुंती समेत उन्हें जला देने का प्रबंध किया गया; पर उनको इसकी खबर पहले ही मिल गई थी। वे वहाँ से भाग निकले। वेश बदलकर वे इधर-उधर समय बिता रहे थे। तभी उनको पांचाल के राजा की पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर की सूचना मिली। परिवर्तित वेश में वे भी वहाँ पहुँचे। वहाँ बहुत से राजा-महाराजा पहले ही एकत्र थे। गरीब ब्राह्मण की वेशभूषा में अकेले अर्जुन ने स्वयंवर की कठिन कड़ी शर्त को पूरा किया। द्रौपदी ने उसके गले में जयमाला डाल दी। अन्य क्षत्रिय राजा हैरान रह गए। अर्जुन को ब्राह्मण समझकर वे उसके साथ लड़ने के लिए तैयार हो गए। श्रीकृष्ण वहाँ मौजूद थे। उन्होंने पहली बार अपने संबंधी पांडवों को वहाँ देखा, फिर भी उन्हें पहचान लिया और उनकी सहायता के लिए वे तैयार हो गए। बाद में वे उन्हें हस्तिनापुर ले आए और कौरवों के साथ संधि करा दी। पांडवों ने अपना अलग राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी का नाम 'इंद्रप्रस्थ' रखा गया।

श्रीकृष्ण की ख्याति

श्रीकृष्ण वापस द्वारका चले गए। उनकी ख्याति दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। उनका बालसखा सुदामा उनका नाम सुनकर एक बार उनसे मिलने के लिए द्वारका आया। सुदामा गुरु सांदीपनि के आश्रम में श्रीकृष्ण के साथ विद्याध्ययन करता था; परंतु अब बहुत गरीबी की हालत में था। लगातार कई दिनों तक पैदल चलने के बाद वह थका-माँदा द्वारका पहुँचा। घर से चलते समय उसकी स्त्री ने थोड़े से तडुल श्रीकृष्ण के लिए भेंटस्वरूप ले जाने के लिए उसकी फटी धोती के एक कोने में बाँध दिए थे।

ज्यों ही श्रीकृष्ण को सुदामा के आने की सूचना मिली त्यों ही वे दौड़े-दौड़े महल से बाहर आए। उन्होंने सुदामा को अपनी छाती से लगा लिया। हाथ-पाँव धुलाने के बाद उसे चौकी पर बिठलाया और प्रेम-पगी बातचीत करते हुए पूछा, 'मेरे लिए क्या उपहार लाए हो?' मारे संकोच के सुदामा अपनी धोती के उस कोने को छिपा रहा था। इतने में श्रीकृष्ण ने उठकर उससे वे तंडुल छीन लिये। वे मुँह में थोड़े से दाने डालकर चबाने लगे। शेष उन्होंने रुक्मिणी को दे दिए कि सबमें बाँट दे। श्रीकृष्ण सुदामा की पत्नी की बड़ी प्रशंसा करने लगे कि उसने यह उपहार भेजकर बड़ी कृपा की है।

यह एक सामान्य घटना थी, परंतु इसकी चर्चा सर्वत्र होने लगी। फलतः इससे श्रीकृष्ण के बड़प्पन और सर्वप्रियता का डंका बजने लगा।

श्रीकृष्ण और राजसूय यज्ञ

श्रीकृष्ण को खबर मिली कि युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करना आरंभ किया है। वे वहाँ पहुँचे और अपनी मंत्रणा से सहायता देने लगे। उनकी सम्मति के अनुसार यह निश्‍चय किया गया कि राजसूय यज्ञ करने से पूर्व जरासंध के मान को तोड़ना जरूरी है। कुछ देर विचार-विमर्श करने के बाद यह निश्चय हुआ कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम—ये तीनों उसकी राजधानी में जाएँ। ऐसा ही किया गया। वहाँ भीम ने जरासंध से द्वंद्व युद्ध करके उसका वध कर दिया। फिर उसका बेटा गद्दी पर बैठा दिया गया।

मगध से वापस आने पर यज्ञ की तैयारी होने लगी। यज्ञ के आरंभ में नियम के अनुसार एक श्रेष्ठ मनुष्य का निर्वाचन आवश्यक था, जिसकी पूजा सबसे पहले की जाए। महाभारत में एतद्विषयक वाद-विवाद का दृश्य वर्णन बड़े सुंदर ढंग से किया गया है। इसमें एक तरफ के लोग, जिनके नेता भीष्म पितामह थे, अग्रपूजा

का मान आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ राजा श्रीकृष्ण को देना चाहते थे दूसरी तरफ भी कई राजा लोग थे जिनका अगुआ शिशुपाल था ये लोग श्रीकृष्ण को नीचा दिखलाना चाहते थे शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को बहुत कुवचन एव दुर्वचन कहे अत मे श्रीकृष्ण ने अपना सुदर्शन चक्र चलाया, जिससे शिशुपाल का सिर धड़ से अलग हो गया। तत्पश्चात् सबसे पहले श्रीकृष्ण की पूजा की गई। इससे श्रीकृष्ण का कद सबसे ऊँचा हो गया और वे देव-तुल्य पदवी पर स्थापित हो गए।

युधिष्ठिर को द्यूतक्रीड़ा की चुनौती

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की सफलता देखकर दुर्योधन की ईर्ष्या की कोई सीमा न रही। उसने फिर किसी-न-किसी बहाने पांडवों को गिराना चाहा। अपने मामा शकुनि की सहायता से एक षड्यंत्र कर उसने पांडवों को हस्तिनापुर बुला भेजा। वहाँ उसने युधिष्ठिर को द्यूतक्रीड़ा का निमंत्रण दिया। यह एक प्रकार की चुनौती थी। एक क्षत्रिय को दूसरे क्षत्रिय की तरफ से दी गई चुनौती को स्वीकार करना ही उस समय धर्म समझा जाता था। युधिष्ठिर मान गए। मामा शकुनि जुआ खेलने में सिद्धहस्त था। उसे विश्वास था कि युधिष्ठिर बड़ा धर्मात्मा है; वह क्षत्रिय की चुनौती को कभी अस्वीकार न करेगा। युधिष्ठिर सारा धन आदि और यज्ञ में प्राप्त उपहार, राज्य, अपने भाइयों और अपने आपको भी हार गए। तब उनसे द्रौपदी को भी बाजी पर लगाने के लिए कहा गया। युधिष्ठिर द्रौपदी को भी हार गए।

जब बाद में पांचाली (द्रौपदी) को बड़ी बेइज्जती के साथ घसीटकर भरी सभा में लाया गया तब उसने भीष्म के सामने बड़ी भारी युक्ति पेश की, 'अपने आपको हार जाने के बाद युधिष्ठिर को मुझे बाज़ी पर लगा देने का कोई अधिकार न था।' इसे सुनकर भी भीष्म चुपचाप बैठे रहे। इस सारे खेल का परिणाम यह हुआ कि पांडवों को बारह वर्ष के लिए वन में जाना पड़ा तथा एक वर्ष के लिए अज्ञातवास में। इस निर्वासन काल में श्रीकृष्ण पांडवों की कुशलता की खबर निरंतर लेते रहे। वनवास समाप्त करने पर पांडवों ने इस बात का प्रयत्न किया कि दुर्योधन उनके निर्वाह के लिए कुछ प्रदेश दे दे; परंतु वह तिल भर भी जगह देने पर राजी न हुआ। अंत में द्रुपद, विराट और श्रीकृष्ण की मदद से पांडवों ने अपना हिस्सा लेने के लिए युद्ध की तैयारी शुरू कर दी।

पांडव और दूत संजय

पांडव अभी विराट नगर में ही थे कि महाविद्वान् संजय महाराज धृतराष्ट्र की

तरफ से दूत बनकर पांडवों के पास आया। उसने पहले तो स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि पांडवों के साथ बड़ा अन्याय हुआ है, दुर्योधन ने कई बार उनके साथ कपट किया है; परंतु फिर यह कह दिया—क्योंकि दोनों ओर एक ही वंश के लोग हैं, इसलिए युद्ध करना उचित नहीं है। ऐसा करने से एक राजवंश तो नष्ट होगा ही, साथ ही अन्य लाखों क्षत्रिय भी मारे जाएँगे। इसलिए संतोष करना और शांतिपूर्वक रहना श्रेयस्कर है।

इसका उत्तर श्रीकृष्ण ने भरी सभा में यों दिया, 'आप वेदों और शास्त्रों के इतने बड़े विद्वान् होकर क्षत्रिय को धर्मयुद्ध से रोकना चाहते हैं। अन्याय को दूर करने और निर्बल की रक्षा करने के लिए ही क्षत्रिय बनाए गए हैं। शस्त्रों की रचना भी इसीलिए की गई है। यदि क्षत्रिय अपना धर्म छोड़ देंगे तो बाकी वर्णों के धर्मों का नाश अपने आप हो जाएगा। जिस प्रकार 'रोटी' शब्द कहने से ही भूखे का पेट नहीं भरता उसी प्रकार बिना कर्म के कोरा ज्ञान किसी काम नहीं आता।'

संजय वापस चला गया। इसके बाद स्वयं श्रीकृष्ण पांडवों की ओर से धृतराष्ट्र की सभा में पहुँचे, ताकि उनका अधिकार दिलाने की कोशिश करें। वे जानते थे कि दुर्योधन उनकी बात न सुनेगा; परंतु उनकी राय थी कि यह कलंक भी उसके माथे पर लगाना चाहिए।

युद्ध की तैयारियाँ पूरी हुईं। दोनों ओर से सेनाएँ कुरुक्षेत्र में एकत्र हुईं। श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथि बने। अर्जुन पांडव सेना का सेनापति था। कौरव सेना के सेनापति भीष्म पितामह थे। अर्जुन का रथ जब दोनों ओर की सेनाओं के बीच में खडा हुआ, तब उसे दोनों ही तरफ अपने बंधु-बांधव, गुरु और संबंधी नजर आए। फलत: वह मोह के समुद्र में डूब गया। भवावेश में उसकी आँखों से आँसू निकल पडे। यह कहकर कि 'यह तो छोटा सा राज्य है। मैं तो तीनों लोकों के राज्य के लिए भी इनका वध नहीं करूँगा', अर्जुन ने श्रीकृष्ण के सामने धनुष-बाण रख दिए।

अब अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करना श्रीकृष्ण के सामने एक बड़ी समस्या थी। बस, इसी समस्या के समाधान के हेतु श्रीकृष्ण के मुख से जो वाग्धारा प्रवाहित हुई, वह 'भगवद्गीता' है।

अर्जुन की कठिनता

मनुष्यों की तरह जातियों के जीवन में भी कई बार ऐसी नाजुक स्थिति आ जाती है, जब उन्हें यह मालूम नहीं होता कि धर्म क्या है और अधर्म क्या। ऐसे अवसरों पर उनके सामने एक बड़ी कठिन और पेचीदा पहेली आ खड़ी होती है।

बडे–बड़े शूरवीरों और ज्ञानियों की बुद्धि भी चकरा जाती है और अधर्म उनको धर्म के रूप में नजर आने लगता है। जिनको संसार से इतना विराग हो चुका होता है कि वह अपना सर्वस्व त्याग देता है, उसकी बुद्धि भी भ्रम के वश में होकर उलटे विचारों में पड़ जाती है। भगवद्गीता में इस संबंध का ज्ञान पाया जाता है। इसको भलीभाँति समझ लेने से मनुष्य में वह विवेक पैदा हो जाता है, जिससे वह धर्म और अधर्म को ठीक तौर पर पहचान सकता है। इस बात को स्वयं अर्जुन ने अध्याय अठारह के श्लोक ७३* में स्वीकार किया है। पहले उसका मन एक गहरे और कठिन संशय में पड़कर अंधकार में चक्कर लगा रहा था। श्रीकृष्ण का उपदेश सुनने के बाद अंत में उसने कहा, 'आपकी कृपा से मुझे सद्ज्ञान प्राप्त हो गया है। मेरा वह मोह दूर हो गया है। मेरे संशय छिन्न-भिन्न हो गए हैं। मैं वही करूँगा, जिसकी आप आज्ञा करेंगे।'

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने तीन विभिन्न मार्गों से वह ज्ञान अर्जुन को देने की कोशिश की है। प्रथम भाग (पहले से छठे अध्याय तक) में कर्म, त्याग और ज्ञान पर बहुत गूढ़ विवाद है। दूसरे भाग (अध्याय सात से बारह तक) में यह बतलाया गया है कि इस समस्त संसार का, जो दृष्टिगोचर है, बीज आत्मा मैं हूँ; यह मुझसे उत्पन्न होता है और मेरा ही सहारा पाता है। तीसरे भाग (अध्याय तेरह से अठारह तक) में यह बतलाया गया है कि किस प्रकार प्रकृति के गुण—तम, रज और सत्त्व—ब्रह्माण्ड के अंदर काम करते हैं और किस प्रकार यह समस्त बाह्य संसार एक ही शक्ति से उत्पन्न होता है।

श्रीकृष्ण के विभिन्न रूप

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण पहले तो अर्जुन के सारथि हैं; फिर वे उसे ज्ञान का उपदेश देनेवाले दिखाई देते हैं। आगे चलकर वे अर्जुन को बताते हैं, 'मैं महायोगी और महाज्ञानी हूँ।' चौथे अध्याय में वे कहते हैं, 'मैं उचित समय पर दुष्टों का नाश और धर्म की रक्षा करने के लिए जन्म लेता हूँ।' छठे में उन्होंने यहाँ तक कह दिया, 'सभी भूतों और पदार्थों की आत्मा मैं ही हूँ।' दूसरे भाग में स्पष्ट तौर पर यह बताया गया है, 'सारा ब्रह्मांड मेरा ही खेल है।'

यह एक बड़ी रहस्यमय पहेली है कि किस प्रकार एक ही मनुष्य यह

---

* नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

सबकुछ कह सकता है। इसका उत्तर तो साधारण है। एक ही मनुष्य किसी का पुत्र, किसी का पिता, किसी का गुरु, किसी का शिष्य—विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। इस प्रकार एक ही मनुष्य के कई पहलू होते हैं। एक अमेरिकी लेखक का कथन है कि जब दो मनुष्यों में गलतफहमी के कारण नाराजगी पैदा होती है, तब इसका असली सबब यह होता है कि वे दो नहीं बल्कि छह मनुष्य होते हैं, जिससे झगड़े का मौका निकल आता है। वह किस प्रकार? उन दोनो में से हर एक अपने आपको कुछ समझता है, दूसरा आदमी उसको कुछ और समझता है; परंतु वास्तव में वे दोनों कुछ और ही होते हैं।

दूसरे, प्रत्येक मनुष्य का शरीर बाह्य और आंतरिक अर्थात् जीव और आत्मा से मिलकर बना होता है। दूसरी चीज आत्मा या आंतरिक शरीर को जानना अपने मन की अवस्था पर निर्भर करता है। अज्ञानी तो सिर्फ बाह्य शरीर को देख सकता है। विचारवान् शरीर को ही नहीं बल्कि गुणों को भी देखता है; परंतु ज्ञानी शरीर और गुणों को छोड़कर केवल आत्मा को देखता है। इस विषय में एक दृष्टांत दिया गया है।

एक समय श्री रामचंद्र ने वीर हनुमान् से पूछा, 'हमारे साथ तुम्हारा क्या सबंध है?' वीर हनुमान् सोचते रहे कि एक उत्तर देने से मूर्ख लोग मुझे अभिमानी कहेगे और दूसरा उत्तर देने से ज्ञानी मुझे अज्ञानी कहेंगे। सोचकर अंत में उन्होंने उत्तर दिया, 'महाराज, मैं शरीर की दृष्टि से तो आपका दास हूँ, जीव की दृष्टि से आपका अंश और आत्मा की दृष्टि से आपका स्वरूप।' ईसा अपने आपको 'खुदा का बेटा' कहते थे; परंतु एक अवसर पर उन्होंने ठीक इसके विरुद्ध यह कहा, 'मैं और मेरा पिता एक ही हैं।'

□

तीसरा परिच्छेद

ज्ञान की सापेक्षता

तीन प्रकार के प्रमाण

'न्यायदर्शन' में पदार्थ को जानने के तीन प्रमाण बताए गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। शब्द प्रमाण में आप्त पुरुषों के कथन, इतिहास आदि आते है, परंतु यह प्रमाण इस दृष्टि से बहुत कमजोर है कि जनसाधारण नासमझी से या किसी मतलब को सामने रखकर झूठ की तरफ झुक जाते हैं। मज़हबी चमत्कार और करामात साधारणतया अनुत्तरदायी मनुष्यों की गवाही के आधार पर चलाए गए हैं। इसलिए वे विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते।

जब दो चीजों का संबंध सदा एक स्थान पर पाया जाता हो, तब वहाँ पर एक से दूसरे की उपस्थिति का परिणाम निकालना 'अनुमान' कहलाता है; जैसे धुएँ को देखकर आग का खयाल करना। विचार करने पर मालूम होता है कि अनुमान प्रत्यक्ष ज्ञान पर निर्भर होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान बार-बार होने के बाद ही अनुमान का खयाल पैदा होता है। वास्तव में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है, जो हमें इंद्रियों के द्वारा प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम समस्त ज्ञान इंद्रियों के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। हमारी ज्ञान-इंद्रियाँ—आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा—विशेष तंत्रिकाओं* के द्वारा मस्तिष्क से संबद्ध हैं। मस्तिष्क एक प्रकार का केंद्रीय तारघर है, जहाँ से वे तंत्रिकाएँ तारों की तरह शरीर के हर एक भाग में पहुँचती हैं। ये तंत्रिकाएँ दो प्रकार की हैं—एक

* तंत्रिकाएँ—Nerves (नर्व्ज)।

प्रेरक[1] जो शरीर पर होनेवाले हर बाह्य सस्कार को सदेह के रूप मे मस्तिष्क तक पहुँचती हैं; दूसरी संवेदी[2], जो मस्तिष्क से सभी आदेशों को शरीर के विभिन्न भागो तक ले जाती हैं। उदाहरणार्थ—जब कोई ठंडी या गरम, सख्त या नरम चीज बाहर से त्वचा के साथ छूती है तब वहाँ की रग तत्काल इस संस्कार को मस्तिष्क तक पहुँचा देती है। फिर मस्तिष्क से शरीर के उस भाग को पीछे हटने या वहीं रहने का आदेश ज्ञान संबंधी रग के द्वारा मिलता है। ये सारी क्रियाएँ बहुत ही थोड़े समय के अदर होने के कारण हमें स्वत: होती हुई मालूम देती हैं। इस प्रकार का संस्कार जब एक बार होकर दोबारा किसी इंद्रिय पर होता है तब मस्तिष्क में एक नई अनुभूति काम करती है कि यह संस्कार पहले भी मुझपर हुआ है। यह अनुभूति ज्ञान की नींव है। बाल्यकाल से ही ये संस्कार बार-बार हमारी इंद्रियों पर होते हैं। इस प्रकार हमारे मस्तिष्क में ज्ञान का कोष दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है।

ज्ञान के साधन--इंद्रियाँ

केवल इंद्रियाँ ही हमारे ज्ञान के साधन हैं, इस कारण स्वभावत: यदि इंद्रियों में भेद हो तो ज्ञान में भी भेद होगा। जो मनुष्य जन्म से अंधे और बहरे होते हैं, उनको संसार की विभिन्न चीजों के रूपों या नामों का कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इस कमी को पूरा करने के लिए उनकी अन्य इंद्रियाँ असाधारण तौर पर सक्रिय हो जाती हैं। कई अंधे व्यक्ति वर्षों के बाद मिलनेवाले अपने परिजन या मित्र को भी केवल हाथ से टटोलकर जान लेते हैं।

कई प्राणियों की इंद्रियाँ दूसरे प्राणियों की इंद्रियों से बहुत भिन्न होती है। इसलिए चीजों के संबंध में उनका ज्ञान भी भिन्न होता है। उदाहरणार्थ—कुत्ते मे सूँघने की शक्ति और गिद्ध में देखने की शक्ति इतनी अधिक होती है कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते। शिकार के पाँव के निशानों को जमीन पर सूँघकर शेर उसकी तलाश कर सकता है। एक वस्तु का ज्ञान मनुष्य को एक विशेष प्रकार का होता है; लेकिन वस्तु के ज्ञान का नक्शा चींटी या मछली के दिमाग पर उससे सर्वथा भिन्न होता है।

बीच की दूरी बदलने से ज्ञान में परिवर्तन

पदार्थों और हमारी इंद्रियों के बीच अंतर या फासला घट-बढ़ जाने से या

१ प्रेरक तंत्रिका—Motor Nerve (मोटर नर्व)।
२ संवेदी तंत्रिका—Sensory Nerve (सेंसरी नर्व)।

बीच मे किसी अन्य वस्तु के आ जाने से उनके सबध मे हमारा ज्ञान बदल जाता है। एक पहाड़ को चार मील से देखने पर उसका एक अलग रूप दिखाई देता है तो दो मील, एक मील, आधे मील तथा सौ गज पर अलग। इस प्रकार इस फासले के पाँच भाग करने पर उस पहाड़ के स्वरूप में कितने ही परिवर्तन हो जाते हैं। जब हम अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा छाछ की एक बूँद को देखते हैं, तब उसमें हजारों 'बैक्टीरिया' नामक प्राणी गति करते दिखाई देते हैं। किंतु केवल आँख से देखने पर छाछ के भरे कटोरे में भी ऐसी कोई चीज नजर नहीं आती। दूरवीक्षण या दूरबीन से सितारों को देखने पर हमारी दृष्टि में ब्रह्मांड का नक्शा ही परिवर्तित हो जाता है। अँधेरे में मामूली रस्सी कभी-कभी साँप के रूप में दिखाई देने लगती है। बीच में फासला और सूर्य की किरणें आ जाने पर हम मृगजल का वह दृश्य देखते हैं, जिसमें रेत पानी के रूप में नजर आती है। कहा जाता है कि इस पानी के धोखे में हिरन दौड़-दौड़कर अपनी जान खो बैठता है। इसी प्रकार का धोखा भर्तृहरि को हुआ था, जब वे राज-पाट छोड़कर चाँदनी रात में जंगल में जा रहे थे। उन्होंने एक चमकती हुई मणि को देखा। तृष्णा फिर जाग उठी। उसकी तरफ हाथ बढ़ाया। मालूम हुआ कि वह तो किसी की पीक है, जो चाँद की किरणों के कारण इतनी चमक रही है।

मस्तिष्क की स्थिति बदलने से ज्ञान में परिवर्तन

ज्ञान मस्तिष्क को होता है। मस्तिष्क की ज्ञानवाली अवस्था को 'बुद्धि' कहते हैं। बुद्धि की स्थिति बदल जाने पर ज्ञान भी बदल जाता है। शिक्षा मिलने पर बुद्धि तेज हो जाती है। शराब, भंग, अफीम आदि नशेवाली चीजों के असर से बुद्धि उलटी सी हो जाती है। पानी के गंदे तालाब के अंदर अशिक्षित मनुष्यों को सिवाय गदे पानी के कुछ नहीं दिखलाई देता; परंतु बैक्टीरिया का शास्त्र जाननेवाले की दृष्टि में उसी के अंदर प्राणियों की सैकड़ों-हजारों बस्तियाँ होती हैं। जिन चीजों को साधारण मनुष्य केवल कंकड़ या गुड़ियाँ समझता है वे उन बच्चों, जो उनसे खेलते हैं, की नजर में बड़ी महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य चीजें हैं।

एक कथा है। किसी राजा को एक ज्योतिषी ने बताया कि अमुक दिन अमुक मुहूर्त में एक ऐसी हवा चलेगी, जिससे सभी लोग पागल हो जाएँगे। राजा ने अपने मंत्री से मंत्रणा करने के पश्चात् अपने आपको मंत्री सहित एक खास जगह मे बंद कर लिया, ताकि निश्चित समय पर चलनेवाली हवा उन्हें न लग सके। हवा चली और लोगों की बुद्धियाँ बदल गईं। राजा और मंत्री बाहर निकलने पर लोगों

को देखकर उन्हें पागल कहने लगे; जबकि दूसरे सब लोग उन दोनों को ही पागल कहने लगे।

काम, क्रोध आदि से ज्ञान में परिवर्तन

जब हमारा मन काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विषयों में से किसी एक के प्रभुत्व के नीचे आ जाता है तब हमारे ज्ञान की अवस्था बदल जाती है। भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक ३८[१], ३९[२] और ४०[३] में बड़ी उत्तम रीति से बताया गया है कि हमारी इच्छाओं की मैल मन को उसी प्रकार धुँधला कर देती है जिस प्रकार धुआँ आग को और धूल शीशे को छिपा देती है। अपने मुँह में दबाए हुए मांस के टुकड़े की छाया को पानी में देखकर लोभ के वश में होकर कुत्ता उसे भी मांस समझता है और पकड़ने के लिए मुँह खोलता है। इस तरह वह अपने मुँह का टुकड़ा भी पानी में खो देता है। इसी प्रकार भर्तृहरि ने एक सुंदर श्लोक में बताया है कि छूने, सुनने, देखने, सूँघने, खाने आदि विभिन्न विषयों के वश में होकर हाथी, हिरना, पतंगा, भौंरा और मछली किस तरह अपनी-अपनी जान खो बैठते हैं। बड़े दु:ख के साथ भर्तृहरि कहते हैं कि जब एक इंद्रिय इन जानवरों को इतना क्लेश पहुँचाती है तब बेचारे मनुष्य का क्या कहना, जो सभी इंद्रियों के वश में पड़ा हुआ है।

इस प्रकार के अज्ञान का एक मोटा सा दृष्टांत है। किसी खेत में एक सूखे हुए वृक्ष का तना खड़ा था। रात के वक्त अँधेरे में चौकीदार ने उसे चोर समझकर साहस तो किया, परंतु डरते-डरते ही उसकी ओर कदम बढ़ाया। अपने खोए हुए गधे की खोज में एक धोबी तने को गधा समझकर उसके पास गया। मोह के वशीभूत हुई एक युवती उसे अपना प्रीतम समझकर उसकी तरफ टकटकी लगाकर देखने लगी।

इंद्रियों के वश में पड़े रहने से हुए अज्ञान का अनुमान गौतम बुद्ध के एक शिष्य भिक्षु की कथा से भी हमें भलीभाँति होता है। एक बड़ा सुंदर नवयुवक भिक्षु

---

१ धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

२ आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

३ इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

गाँव में भिक्षा माँगने जाया करता था। गाँव के शुरू में ही रहनेवाली एक ललना, जो उसे देखकर मोहित हो गई थी, उसे थाली भरकर आटा दे देती। इसे काफी समझकर वह वापस चला जाता। कुछ दिन गुजरने पर उस स्त्री ने भिक्षु से अपने मन की इच्छा इस तरह प्रकट की, 'महाराज, मैं आपके नयनों पर मर रही हूँ।' भिक्षु ने सलाई से अपनी दोनों आँखें निकालकर उसके हवाले कर दीं।

इसी प्रकार का एक अन्य दृष्टांत एक युवती का है, जिसने राजा को ज्ञान का मार्ग बताया। वह युवती ऊँचे आचरणवाली थी। एक राजा उस पर मोहित हो गया। युवती ने तीन दिनों की मोहलत माँगी। इस बीच में उसने सख्त जुलाब ले लिया। साथ ही नौकरानी से यह कह दिया कि शरीर के अंदर से निकलनेवाले सारे मल को ठीकरे में जमा करती जाओ। तीन दिनों के बाद उसका शरीर हड्डियो का पिंजर सा रह गया। अब उसने राजा को बुला भेजा। उसकी शक्ल न पहचानकर राजा इधर-उधर देखने लगा। इस पर युवती ने कहा, 'अब आप मुझे देखना भी नहीं चाहते।' ठीकरे की तरफ इशारा करके उसने बताया, 'उसमें वह चीज है, जो मेरे अंदर होने पर आप मुझ पर इतने मोहित थे। इस ठीकरे को आप ही अपने साथ ले जाइए।'

सोपाधि ज्ञान और माया

सोपाधि, अर्थात् इंद्रियों के द्वारा प्राप्त किए गए ज्ञान को 'माया' नाम दिया गया है। इन्हीं अर्थों में यह संसार एक माया-रूपी खेल है, जिसमें जीवात्मा फँसा हुआ है। ब्रह्मांड की रचना में मनुष्य भी इस बड़ी मशीन का एक पुरजा है। इसे दूसरी चीजों का निर्विकल्प ज्ञान होना संभव नहीं। हम साधारण अवस्था में बाह्य संसार के इतने प्रभावाधीन होते हैं कि उसकी वास्तविकता की ओर ध्यान देने का भी खयाल नहीं आता। ऐसे ही, जैसे थिएटर में बैठा हुआ एक व्यक्ति नाटक देखता है या एक आदमी किसी उपन्यास को पढ़ रहा होता है। वह उस समय के लिए उस नाटक या उपन्यास में फँस जाता है और उसको ही वास्तविक समझकर उससे उसी प्रकार सुख-दुःख अनुभव करता है जिस प्रकार हम अपनी दुनिया में करते हैं। वह असली ज्ञान को इतना भूल जाता है कि उसे खयाल ही नहीं आता कि मैं तमाशा देख रहा हूँ या उपन्यास पढ़ रहा हूँ।

संसार का सारा ज्ञान हमको इंद्रियों के द्वारा ही प्राप्त होता है। ये इंद्रियाँ बहुत ही निर्बल और अपूर्ण हैं। इसलिए यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि हमें किसी चीज का निरपेक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। जब हम उस संसार को ही नहीं जान सकते,

जिससे हम इतने परिचित हैं तो ब्रह्म, जो इंद्रियों की शक्ति से कहीं परे है, का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? साधारणतया मनुष्य ईश्वर का चित्र अपने दिमाग से बनाता है, अर्थात् जो गुण उसे अधिक पसंद होते हैं, उनके अनुसार ईश्वर का एक रूप गढ़ लेता है। ईश्वर को छोड़ दीजिए। हम तो महापुरुषों को भी अपने-अपने स्वभाव के झुकाव के अनुसार देखते हैं। उदाहरणार्थ—गुरु गोविंद सिंह शत्रुओं की दृष्टि में तो इसलाम के एक खतरनाक दुश्मन थे, परंतु हिंदू उन्हें राष्ट्रीय धर्म के रक्षक समझते थे; गुरुभक्त सिख उन्हें ईश्वर खयाल करते थे और समाजवादी विचार रखनेवाले सिख उन्हें बड़ा वर्गवादी बतलाते हैं। इसी प्रकार जिन खूबियों को मनुष्य पसंद करता है, उन्हें पूर्णता का दरजा देकर वह ईश्वर के अंदर डाल देता है। हम प्रेम को अच्छा समझते हैं। इसलिए कहते हैं—ईश्वर सबसे प्रेम करता है। हम दया को अच्छा मानते हैं और कहते हैं—ईश्वर बड़ा दयालु व न्यायकारी है। इसी प्रकार कई मनुष्य उसे कह्हार या विपत्तिकर्ता और जब्बार या जब्र करनेवाला भी बना देते हैं। भगवद्गीता के अध्याय तेरह के श्लोक १४[१] में कहा गया है कि जिसे इतने गुणोंवाला कहा जाता है, वह वास्तव में निर्गुण है।

इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण हमको उस प्रश्न के रूप में मिलता है, जो जनसाधारण की जबान पर पाया जाता है, 'ईश्वर ने इस संसार को क्यों बनाया? इसके रचने में उसका क्या उद्देश्य है?' बात यह है कि हमारे समस्त जीवन का प्रवाह हमें एक ही शिक्षा देता है। हम बिना मतलब के कोई काम नहीं करते। हर एक काम में हमारा मतलब उसके साथ मिला हुआ रहता है। हमारे मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी हो चुकी है कि हम इस संसार को बिना किसी प्रयोजन के रचा हुआ मान नहीं सकते। जिस ब्रह्म को हमारे लिए जानना ही संभव नहीं, उसके विषय में ऐसे प्रश्न करना, 'उसने ऐसा क्यों किया? इसमें उसका क्या प्रयोजन है?' कुछ अर्थ नहीं रखता। भगवद्गीता के अध्याय तीन का श्लोक १०[२] साफ बतलाता है कि इस ब्रह्म ने प्रजा को यज्ञ से, अर्थात् बिना किसी प्रयोजन के रचा है।

सापेक्ष और निरपेक्ष ज्ञान

व्यवहार में हमारा ज्ञान केवल सापेक्ष ही होता है। भगवद्गीता के अध्याय

---

१ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

२ सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

दो के श्लोक ५६[१] और अध्याय चौदह के श्लोक २४[२] आदि में कहा गया है कि बुद्धिमान मनुष्य की दृष्टि में सुख-दुःख, प्रशंसा-निंदा, प्रेय-श्रेय, सोना-पत्थर एक जैसे हैं। संसार में हमें एक-दूसरे के विरुद्ध जितने द्वंद्व दिखलाई देते हैं, वे निरपेक्ष तौर पर देखने से एक ही रूप धारण किए मालूम पड़ते हैं। उनमें अंतर सिर्फ दरजे का होता है, जिन्स का नहीं। विज्ञान के क्षेत्र में हम जानते हैं कि विद्युत् की लहर एक ही शक्ति है। इसका ऋण और धन होना एक काल्पनिक सिद्धांत है। इसी प्रकार जीवन-मृत्यु, सर्दी-गरमी, भलाई-बुराई भी हमारे व्यवहार के लिए केवल परिभाषाएँ बनी हुई हैं। दायाँ और बायाँ स्वयमेव कुछ नहीं है। थोड़ी सी गति एक ही चीज को दाएँ से बाएँ कर देती है। जो हमारा उत्तर है, वह थोड़ी सी गति से हमारा दक्षिण हो जाता है। अमेरिका के शहर वाशिंगटन में राजधानी की इमारत की छत की बनावट ऐसी है कि उसकी चोटी पर वर्षा में जो बूँदें गिरती हैं, बाल भर का फर्क होने से उनमें से एक बूँद उत्तर की ओर लॉरेंस की खाड़ी में और दूसरी दक्षिण की ओर मेक्सिको की खाड़ी में एक-दूसरे से हजारों मील की दूरी पर जा पड़ती हैं। सोलहवीं सदी के विद्वानों की दुनिया इस कदर पीछे थी कि जब कोलंबस ने स्पेन के बादशाह के सामने अमेरिका की खोज करने का मामला पेश किया तब बादशाह ने यह मामला विश्वविद्यालय के विद्वानों के सामने रखा। उन्होंने फैसला दिया कि अगर कोई ऐसा देश पृथ्वी के नीचे मौजूद है तो वहाँ के निवासी सिर नीचे और पाँव ऊपर करके चलते होंगे। इस कारण ऐसे लोगों के साथ किसी प्रकार का संबंध स्थापित करना उचित नहीं है। उस समय के विद्वान् यह भी नहीं समझ सकते थे कि 'ऊपर' और 'नीचे' दो काल्पनिक परिभाषाएँ हैं, जो हमने ही अपने व्यवहार के लिए बनाई हैं।

सुख और दुःख में अंतर

सुख और दुःख के बारे में यही सिद्धांत काम करता है। दुनिया का अनुभव हमें सिखलाता है कि हर प्रकार के सुख के वास्ते थोड़ा-बहुत दुःख उठाना आवश्यक होता है, अर्थात् सुख के अंदर ही दुःख का अस्तित्व विद्यमान होता है। खुशी की खोज ही संसार में दुःख का सबसे बड़ा कारण है। इसी कारण मनुष्य को सुख की

---

१ दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

२ समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

अपेक्षा दु ख से अधिक अनुभव और ज्ञान प्राप्त होते है हम मजदूरी के बदले मे एक बोझ उठाकर ले जाते हैं। इसमें कोई दुःख या सुख नहीं होता। इस बोझ को बेगार में ले जाने पर हमें दुःख होता है; परंतु अपने प्यारे मित्र के लिए यही बोझ उठाने में हमें सुख प्राप्त होता है।

एक लड़का वर्षों तक श्रम करता और कष्ट उठाता है। इससे उसको विद्या प्राप्ति का आनंद मिलता है। इसी प्रकार संसार में ऐसा हर एक काम के लिए, जिसके अंत में हमें खुशी की आशा हो सकती है, हमारे लिए पहले परिश्रम करना आवश्यक होता है। यहाँ तक कि शारीरिक स्वास्थ्य कायम रखने के लिए भी प्रतिदिन थोड़ा-बहुत व्यायाम करना, जो उस समय दुःख-सा मालूम होता है, आवश्यक है। संसार में रुपया कमाने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है। एक आदमी को रुपए कमाने में सफलता प्राप्त होती है। उसे सुख प्रतीत होता है। विफल मनुष्यों के लिए वही बात दुःख सिद्ध होती है। मुकदमे में एक पक्ष जीत जाता है। उसको हर्ष होता है। दूसरे पक्ष को इसी से खेद होता है। वर्षा होती है, रास्ते में चलता मुसाफिर उससे कितना दुःख उठाता है; बल्कि वह तो दिल में जलता है। लेकिन इसी वर्षा से किसानों के हृदय कितने खुश होते हैं।

इसका एक सुंदर उदाहरण उस लोमड़ी का है, जिसके पीछे शिकारी कुत्ते लगे हुए थे। वह बहुत थक गई। कुत्तों की तरफ मुड़कर उसने पूछा, 'आखिर तुम यह तो बताओ कि तुम मेरे पीछे क्यों पड़े हो?' एक ने जवाब दिया, 'सिर्फ तमाशा देखने के लिए।' अब लोमड़ी बोली, 'क्या तुम यह भी जानते हो कि जो बात तुम्हारे लिए तमाशा है वही मेरे लिए मौत है?'

युद्ध में जहाँ एक पक्ष विजय के कारण खुशियाँ मनाता है वहाँ दूसरा पक्ष पराजय के शोक में डूबा होता है।

कई बार सुख-दुःख दोनों का अस्तित्व काल्पनिक होता है। एक गायक किसी धनी के यहाँ कुछ समय तक गाता रहा। अंत में धनी ने कहा, 'कल आना, तुमको इनाम दिया जाएगा।' गवैया खुशी-खुशी घर चला गया। जब अगले दिन आकर उसने इनाम माँगा तो धनी ने कहा, 'जिस प्रकार बातों से तुमने मेरे चित्त को प्रसन्न किया उसी प्रकार मैंने भी एक बात कहकर तुमको रात भर खुश रखा।'

भलाई और बुराई का अस्तित्व

आमतौर पर लोग संसार में बीमारी और दुःख को देखकर घबरा उठते हैं। बहुत से लोग तो इनको इस संसार को बनानेवाले के विरुद्ध एक बड़ा इल्जाम

समझते हैं। 'अगर सचमुच कोई ईश्वर है तो वह संसार से इन बीमारियों को दूर क्यों नहीं कर देता?' स्पेन के बादशाह एल्फांसो ने ऐसे ही लोगों का मत प्रकट किया, जब यह कहा, 'यदि मैं संसार की रचना के समय विद्यमान होता तो खुदा को यह ससार बेहतर बनाने की मंत्रणा देता।' जब कोई भूचाल या बाढ़ आती है तो कई नास्तिक ईश्वर में विश्वास रखनेवालों से कहते हैं, 'तुम अपने ईश्वर को क्यों नही बुलाते, ताकि वह आकर तुम्हारी मुसीबतों को रोके?' संसार में इतनी बुराई को देखकर वे ऐसे घबरा जाते हैं कि उनके मानस में एक प्रकार की बीमारी पैदा हो जाती है, जिसका इलाज करना मुश्किल हो जाता है।

कहते हैं, एक बुढ़िया ने कई ऊँटों पर लदे रूई से भरे हुए बोरे देखे। उसको यह चिंता लगी कि इतनी रूई कौन कातेगा? इसी चिंता में वह पागल हो गई। किसी भी इलाज से उसकी बीमारी दूर नहीं हुई। अंत में एक अनुभवी हकीम ने बीमारी का कारण मालूम करके उसके कानों तक यह खबर पहुँचाई कि रूई के उन बोरो मे आग लग गई है। बुढ़िया ने आश्चर्य से पूछा, 'क्या वे सभी जल गए हैं?' बस, इसके साथ ही उसके होश-हवास फिर से ठीक हो गए।

बीमारी में भूल का सुधार और मृत्यु में भलाई

थोड़ा विचार करने पर मालूम होता है कि ये बीमारियाँ और मौत भलाई के वैसे ही नमूने हैं जैसे बुराई के। रोग वास्तव में क्या है? यह हमारी शारीरिक भूलो का सुधार होता है। उदाहरणार्थ—जब हमें कै या उलटी आती है तब उसका अर्थ यह होता है कि हमने कोई ऐसी चीज खा ली है, जिसे हमारा आमाशय अपने अंदर से निकालने का यत्न कर रहा है। जब किसी घाव में पीब पड़ जाती है, तब वह एक प्रकार से हमारे खून के संघर्ष का परिणाम होता है; क्योंकि वह अपने अंदर से उस गदे माद्दे को बाहर निकालना चाहता है, जो हम प्रायः अपनी गलती से अंदर दाखिल कर लेते हैं। इसी प्रकार कई बार ऐसा होता है कि हम गले के अंदर थोड़ी सी खिचखिच, जो प्राय: जरा गरम-सर्द होने से पैदा हो जाती है, को खिचखिच न समझकर अपने अंदर बलगम का आधिक्य समझते हैं और वर्षों तक हर सुबह कफ को बाहर निकालने की कोशिश करते रहते हैं।

उपर्युक्त बातों का आशय यह कि हमारी अपनी आदतें और गलतियाँ ही प्रायः हमारी बीमारियों का कारण होती हैं।

हम अपने इर्द-गिर्द गंदगी रखकर एक विशेष प्रकार का मच्छर पैदा कर लेते हैं, जो हमें काटता है। उससे मलेरिया बुखार शुरू हो जाता है। इस प्रकार

अपनी बामारी का कारण हम खुद पैदा करते हैं परतु उससे अपनी रक्षा नहीं करते

छूत की बीमारियाँ प्राय: हमारी शारीरिक और नैतिक गंदगी से पैदा होती हैं। जब कोई मनुष्य इस प्रकार के रोग में फँस जाय, तब यह उसके लिए चेतावनी है कि अपनी गंदगी से समाज के अन्य लोगों को दु:ख में न फँसाए और न संतान उत्पन्न करके उनके लिए दु:ख का कारण बने।

महामारियाँ भी इसी प्रकार समाज की सामूहिक गंदगी और गिरावट का परिणाम होती हैं। जिन देशों में लोग अपने मकान साफ और हवादार रखते हैं तथा अपना भोजन स्वच्छ रखते हैं, उनमें इन बीमारियों का कहीं नामोनिशान भी नहीं मिलता। यद्यपि संक्रामक रोगों का आरंभ किसी विशेष मनुष्य या स्थान में गंदगी या जहरीले कीटाणुओं के जमा हो जाने से होता है, तथापि वह समाज पहले से ही इस जहर से प्रभावित होने के योग्य बना हुआ होता है।

सामाजिक पापों के विषय में एक विचित्र कानून काम करता है। यदि समाज का एक सदस्य कोई सामाजिक पाप करे तो उसकी सजा उस व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि उसका असर समस्त समाज के लिए घातक सिद्ध होता है, क्योंकि प्रकृति समस्त समाज को भी एक ही शरीरी या सामूहिक अवस्था में एक ही शरीर समझती है। समाज के सिर पर यह बड़ा भारी पाप होता है कि उसने अपने एक अंग या अवयव को इतना गंदा तथा गुमराह रहने दिया।

सामाजिक नियम यह है कि मनुष्य अकेला या कुछ मनुष्य मिलकर शेष सारे समाज को पीछे छोड़ स्वयं उन्नति नहीं कर सकते। जहाँ पर जिस मनुष्य मे आगे बढ़ने की इच्छा हो, वहाँ पर उसके लिए आवश्यक है कि समाज के बाकी हिस्सों को भी वह अपने साथ ले। इस प्रकार समाज की भलाई में व्यक्तियों की अपनी-अपनी भलाई पाई जाती है। यह कैसी फिजूल बात है कि हम खुद ही भूले करके अपने अंदर बीमारियाँ पैदा करें, फिर उन्हें दूर करने के लिए हर मौके पर ईश्वर को बुलाते फिरें।

जहाँ जीवन होगा वहाँ मृत्यु भी होगी

एक अन्य दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि जीवन और मृत्यु की एक दूसरे से अलग पहचान नहीं की जा सकती। यदि संसार में मृत्यु का अस्तित्व न होता तो नया जीवन कहाँ से आता? प्रकृति के अंदर केवल परिवर्तन का एक नियम काम करता है, जिससे एक जगह मृत्यु और दूसरी जगह जीवन उत्पन्न होता नजर आता है। बत्ती का जलना उसका जीवन है। बत्ती का जल चुकना ही उसकी मृत्यु

है। इसी प्रकार हम भी ज्यों-ज्यों जीवन में बढ़ते हैं त्यों-त्यों मृत्यु के निकट चले जाते हैं।

इसको एक और दृष्टि से देखिए। यदि साधारण प्राणियों के अंदर मौत न हो तो थोड़े समय में ही यह पृथ्वी किसी एक प्रकार के प्राणियों से इतनी भर जाए कि अन्य असंख्य प्रकार के प्राणियों के लिए इस पर कोई स्थान ही न रहे। हाथी संसार में संख्या में सबसे कम उत्पन्न होनेवाला जानवर समझा जाता है। कहते हैं, यह सौ वर्ष से अधिक जीता है। हथिनी छह बरस में केवल एक बच्चा देती है। उम्र भर में एक जोड़े से लगभग दस बच्चे पैदा होते हैं; परंतु डारविन ने हिसाब लगाकर देखा है कि अगर हाथी की मृत्यु न होती तो सात सौ चालीस वर्ष के अंदर उसके केवल एक जोड़े से एक करोड़ पचास लाख हाथी पैदा हो जाते। इसी एक उदाहरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि मृत्यु न होने पर पृथ्वी थोड़े समय के लिए भी जीवन को सँभाल नहीं सकती। जीवन का मूल्य सिर्फ मृत्यु से ही होता है। यदि सृष्टि के आरंभ से आज तक किसी मनुष्य और किसी पशु (क्योंकि यह तो असंभव है कि मनुष्य न मरें और पशु मरते चले जाएँ) की कोई मृत्यु न होती तो आज पृथ्वी के भूभाग का क्या हाल होता? वृद्धावस्था का जीवन कोई पसंद नहीं करता। बचपन में वह रह नहीं सकता; क्योंकि हर एक के लिए संतान उत्पन्न करना भी आवश्यक होता है। फिर सबके लिए यौवन कैसे होता? बाप, दादा, परदादा आदि अनेक पीढ़ियों तक सब लोग जवान ही कैसे होंगे?—यह एक और समस्या है।

कुछ लोगों को भूचाल बहुत ही भयानक मालूम होते हैं; परंतु वे यह भी भूल जाते हैं कि वही कारण, जो इस पृथ्वी को विभिन्न वस्तुएँ उत्पन्न करने के योग्य बनाता है, भूचाल भी पैदा करता है। आरंभ में पृथ्वी आग के गोले के समान थी। समय गुजरने पर ज्यों-ज्यों उसमें गरमी कम होती गई त्यों-त्यों उसके ऊपर जीवन उत्पन्न होता गया। अब भी पृथ्वी की आंतरिक आग के गोले की गरमी दिन-प्रतिदिन कम हो रही है। इससे पृथ्वी पर कहीं-न-कहीं भूचाल आता है। भूचाल अधिकतर ज्वालामुखी पहाड़ों के निकट आते हैं। अब ज्वालामुखी का अस्तित्व मनुष्यों के लिए पर्याप्त चेतावनी है कि वे इनसे बचकर रहें। यदि कोई मनुष्य जान-बूझकर आग में पड़ना चाहे तो ईश्वर उसको बचा नहीं सकता।

राग-द्वेष एक ही भाव के स्तर हैं

नैतिक संसार की भी यही हालत है। फलतः राग-द्वेष साथ-साथ चलते हैं। किसी एक से प्रेम करने का अर्थ दूसरों से द्वेष रखना है। जो मनुष्य अपने

बच्चों को ही प्यार करता है वह दूसरों के बच्चों को उनके बराबर कभी नहीं समझ सकता जिन जातियों में देशभक्ति का भाव बहुत ज्यादा होता है उनके लिए दूसरी जातियों से घृणा रखना होता है उनके अदर मानव प्रेम का भाव नहीं उत्पन्न हो सकता।

यही हाल सत्य और असत्य का है। कहा जा सकता है कि जो कुछ दिल में हो, उसे प्रकट करना सत्य है और उसके विरुद्ध असत्य। निस्संदेह यह बात ठीक है, परंतु मस्तिष्क की बनावट कुछ ऐसी है कि विभिन्न मनुष्यों के अंदर एक ही बात विभिन्न तरीकों पर प्रकट होती है। एक मनुष्य व्याख्यान देता है। हर एक सुननेवाला अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार समझता, खयाल करता और बखान करता है। एक आदमी जब देश-प्रेम के प्रभाव के अधीन होता है तो उसे सत्य का एक विशेष रूप दिखाई देता है; परंतु वह मनुष्य जब भयभीत होता है तब सत्य के रूप को वह बिलकुल बदला हुआ पाता है। अमेरिका के दार्शनिक जेम्ज का दर्शन, जो कृत्यसाधकतावाद[१] के नाम से प्रसिद्ध है, इसी सिद्धांत पर आश्रित है कि निरुपाधि[२] तथा शुद्ध सत्य को जानना बेहूदा खयाल है। प्रत्येक व्यक्ति के सत्य का खयाल उसकी मानसिक स्थिति के अनुसार हुआ करता है। जो बात एक मनुष्य को उसकी विशेष अवस्था में संतोष या हर्ष प्रदान कर सकती है, वही उसके लिए सत्य है। इस दर्शन के अनुसार इस बात की कुछ परवाह नहीं कि सचमुच कोई ऐसी सत्ता है या नहीं, जिसको जनसाधारण 'ईश्वर' का नाम देते हैं। केवल इतना ही पर्याप्त है, क्योंकि ईश्वर का एक विचार उन लोगों को लाभ पहुँचाता है। इसलिए उनके वास्ते वह सत्य का महत्त्व रखता है। भगवद्गीता के अध्याय दो के श्लोक ६९[३] में इसी प्रकार का विचार प्रकट किया गया है, 'जो अज्ञानी की रात है, वह ज्ञानी का दिन है। मूर्ख के लिए दिन ज्ञानी के लिए रात है।'

□

---

१ कृत्यसाधकतावाद—Pragmatism (प्रैगमैटिज्म)।

२ निरुपाधि—Absolute (एब्सोलूट)।

३ या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

चौथा परिच्छेद

अंतिम तत्त्व

बाह्य जगत् के भीतर आंतरिक तत्त्व क्या है?

भगवद्गीता के अध्याय दो के श्लोक २९* में कहा गया है—'कुछ लोग उसे आश्चर्य से देखते हैं, कुछ आश्चर्य से कहते हैं और कुछ आश्चर्य से सुनते हैं; परंतु यह सबकुछ करते हुए कोई उसे जानता नहीं।' छांदोग्य उपनिषद् ने बड़े सुंदर ढंग से यह रहस्य खोला, 'यह सब किसके सहारे है?' इसे क्रमशः हल करने का प्रयत्न किया गया है। अध्याय एक में उल्लेख आता है कि सूर्य के प्रकाश से प्राणियों का जीवन चलता है और चाँद के प्रकाश से वनस्पतियों का। इस कारण शायद सूर्य और चाँद के सहारे ही यह सारा जगत् चलता है।

सत्यकाम जब ज्ञान की खोज में एक ऋषि के पास जाता है तो उसे बड़े लंबे-चौड़े दृष्टांत देकर ऋषि बतलाते हैं—शायद यह अग्नि ही ब्रह्म है जो सबकुछ हज्म करती है। आगे चलकर कहा गया है—शायद यह प्राण हो है जो सबको जलाता है; इसलिए प्राण ही ब्रह्म है।

श्वेतकेतु के विद्या समाप्त करने पर उसके पिता ने पूछा, 'जिस प्रकार मुट्ठी भर मिट्टी से सारी पृथ्वी का ज्ञान हो जाता है उस प्रकार कौन सा एक तत्त्व है जिसके जानने से यह सब जाना जाता है?' जब श्वेतकेतु को इसका उत्तर समझ में नहीं आया, तब उद्दालक ने उसे समझाने के लिए कुछ देर प्यासा रखकर बताया—

---

* आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

'यह पानी ही जीवन का सहारा है; यही ब्रह्म है।' फिर कुछ देर के लिए भूखा रखकर बताया, 'यह अन्न ही जीवन का सहारा है; इसलिए यही ब्रह्म है।' जब इससे भी ठीक-ठीक समझ में नहीं आया तब नमक और पानी के दृष्टांत से समझाया—'जैसे यह नमक पानी के अंदर घुला हुआ है, परंतु दिखलाई नहीं देता वैसे ही वह तत्त्व सबके अंदर है, परंतु दिखलाई नहीं देता।'

आगे चलकर सनत्कुमार से नारद मुनि ने ब्रह्म को जानने की इच्छा प्रकट की। उसने बताया—वेद, अग्नि, सूर्य आदि सब उस एक ब्रह्म ही के चिह्न हैं। इन सबके द्वारा उसका ध्यान करो।

अंत में प्रजापति ने इंद्र को बतलाया—मन, प्राण, वाणी—सबसे परे वह ब्रह्म है। उस ब्रह्म को 'भूमा' कहते हैं; क्योंकि सबकुछ उसके सहारे पर है, वह किसी के सहारे नहीं है।

दर्शन क्या कहते हैं?

न्याय और योग दर्शन तीन अंतिम तत्त्वों को स्वीकार करते हैं—प्रकृति, आत्मा और ब्रह्म। प्रकृति जड़ रूप है। जीवात्मा अल्पज्ञ है, पुण्य-पाप करनेवाला और फल भोगनेवाला है। ब्रह्म सर्वज्ञ है, इन सबको रचनेवाला और चलानेवाला है।

सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष—दो अंतिम तत्त्वों को ही पर्याप्त समझता है, जिनके पारस्परिक मेल से यह सारा संसार चल रहा है। सांख्य को ब्रह्म पर बड़ी आपत्ति यह है कि वह इस संसार को क्यों बनाता है? अपनी इच्छा से या मजबूर होकर? यदि अपनी इच्छा से ऐसा करता है तो उसे क्या आवश्यकता थी? और यदि विवश होकर ऐसा करता है तो वह परमात्मा ही नहीं रहता; क्योंकि तब उसे विवश करनेवाली कोई और शक्ति है।

वेदांत दर्शन प्रकृति और पुरुष की जगह केवल एक ही तत्त्व बतलाता है। वह है ब्रह्म। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति की अभिव्यक्ति का नाम है।

बौद्ध दार्शनिक क्या मानते हैं?

बौद्ध दर्शन में इस सिद्धांत के संबंध में तीन मत पाए जाते हैं—क्षणिकवाद, विज्ञानवाद* और शून्यवाद। क्षणिकवाद के अनुसार यह संसार केवल परिवर्तन का नाम है। हर एक चीज प्रतिक्षण बदलती रहती है; कोई भी वस्तु स्थिर नहीं रहती।

* विज्ञानवाद—Idealism (आइडियलिज्म)।

इसका एक दृष्टांत नदी है पानी की लहर और मिटटी के किनारे को नदी कहते हैं ये लहर और किनारा क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं। इसीलिए परिवर्तन के प्रकट रूप को ही नदी का नाम दिया जाता है। इसी प्रकार दीये की लौ है, जिसमें प्रतिक्षण बत्ती और तेल बदलते रहते हैं। संसार का एक और उदाहरण अग्निचक्र है, जिसमें लकड़ी के दोनों सिरों में आग लगाकर उसे जोर से घुमाने पर अग्नि का एक चक्कर-सा बन जाता है।

विज्ञानवाद सारे बाह्य संसार को मन या कल्पना की उपज मानता है। (स्कॉटलैंड के बर्कले[१] और ह्यूम[२] का मत विज्ञानवाद से मिलता है।) इसके अनुसार, जो कुछ हम जानते हैं, वे इंद्रियों के द्वारा मन पर पड़े हुए संस्कार हैं। उदाहरणार्थ— एक मेज का ज्ञान हमारे लिए उसके रंग, ऊँचाई, सख्ती, नरमी आदि से सीमित है। यह हमें छूने और देखने से प्राप्त होती है। वास्तव में मेज क्या है, यह हम नहीं जानते। इसी प्रकार सारा संसार उन संस्कारों का संग्रह कहा जा सकता है। संस्कार मन के द्वारा होते हैं। इसलिए यह संसार मन की शक्ति से बना हुआ है।

शून्यवाद का अभिप्राय यह है कि वास्तव में इस संसार का कोई अस्तित्व नहीं है। इसकी कल्पना मन से होती है। मन के न रहने पर कल्पना उड़ जाती है। बस, इससे भिन्न संसार कुछ नहीं है।

पश्चिमी दार्शनिकों के मत

जर्मन दार्शनिकों में सबसे बड़ा कांट[३] है, जो दर्शन में कदम आगे बढ़ाता है। इसका मत है कि यद्यपि यह संसार केवल संस्कारों का ही संग्रह है, तथापि मन के अंदर स्वयमेव कुछ संस्कार पैदा करने की शक्ति है। उन पर बाहर से कोई भी असर नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ—देश और काल का संस्कार हमारे मन में पाया जाता है; परंतु देश और काल का अस्तित्व मन से बाहर कुछ नहीं है। कांट सभी संस्कारों को मन के विभिन्न प्रकारों में बाँटता है। इसके अतिरिक्त न हम संसार को जान सकते हैं और न सांसारिक मन को, जो ब्रह्मांड के अंदर काम करता है।

हेगल[४] अन्य तरीके के अनुसार चलता है। वह कहता है कि एक गैर-हस्ती,

१ जी. बर्कले। देखिए फ्रैंक थिल्ली का ग्रंथ 'ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी', पृष्ठ ३५९-६२। जहाँ अन्य संदर्भ का उल्लेख न हो, विशेषतया पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों के लिए यही पुस्तक समझी जानी चाहिए।

२ डी. ह्यूम। वही, पृ. ३७४-७५।

३ आई. कांट। दे. वही, पृ. ४२०-२४, ४२७-३१, ४३५।

४ जी. डब्ल्यू. हेगल। दे. डब्ल्यू.टी. जोन्स, 'ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी' पृ. ८७४-७५।

अर्थात् असत्य है। दूसरा उसके मुकाबले पर सत्य है। दोनों के मेल से संसार बनता है। हेगल सत्य को एक प्रकार की निरुपाधि बुद्धि समझता है, जिसका फैलाव यह समस्त संसार है।

फिश्टे[१] का मत है कि यह संसार अहंकार से ही बनता है।

शॉपनहावर[२], जो सांख्य और उपनिषदों के दर्शन को पर्याप्त समझता है और अपनी पुस्तकों में बार-बार उनके उद्धरण देता है, सांसारिक वासना[३] को संसार का कारण मानता है। वह पौधों और जानवरों के उदाहरणों से सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि उन सबके अंदर वासना विद्यमान है, जो संसार को उत्पन्न करती है। इस वासना को नष्ट करने पर ही संसार का अंत हो जाता है।

इस बारे में भगवद्गीता क्या कहती है?

भगवद्गीता के अध्याय पंद्रह के श्लोक १६[४], १७[५] और १८[६] में कहा गया है कि 'पुरुष दो हैं—एक नाशवान्, दूसरा नाश-रहित। पुरुषोत्तम और है। वह इस संसार को थामे हुए है। वह मैं हूँ। इसलिए वेदों में मुझे पुरुषोत्तम कहा गया है।' अध्याय सात के श्लोक ५[७], ६[८] और ७[९] में यह बताया गया है—'अपरा और परा प्रकृतियाँ—दोनों मेरी हैं। इन दोनों से समस्त संसार उत्पन्न होता है। इसलिए वास्तव में उसकी उत्पत्ति और विनाश मुझसे ही है। ये सब पदार्थ मेरे गिर्द ऐसे पिरोए हुए हैं जैसे माला के धागे में मनके। मुझसे अलग ये कुछ नहीं हैं।' अध्याय

---

१ जे. जी. फिश्टे, दे. थिल्ली, पृ. ४५७-६२।

२ ए. शॉपनहावर, वही, पृ. ४९७।

३ सांसारिक वासना—Cosmic Will (कॉस्मिक विल)।

४ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

५ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

६ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

७ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

८ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

९ मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

नौ के श्लोक ४[१] में कहा गया है, 'मैं अव्यक्त हूँ। मुझसे ही यह सारा संसार फैला हुआ है।' श्लोक ६[२] में बताया गया है, 'जैसे आकाश में हवा चलती है वैसे ही मुझमें सारा संसार चलता है।' सांख्य की आपत्ति का उत्तर भगवद्गीता के अध्याय पाँच के श्लोक १४[३] व १५[४] में आता है, 'ब्रह्म इस संसार को उत्पन्न नहीं करता। यह केवल स्वभाव है, जो स्वयमेव काम करना चाहता है।'

बौद्ध मतवाले आपत्ति करते हैं, क्योंकि इस संसार में केवल गुण-ही-गुण दिखाई देते हैं। इसलिए यह संसार गुणों से मिलकर बना हुआ है। गुणी को ढूँढ़ने की जरूरत ही क्या है? श्री शंकराचार्य ने इसका उत्तर दिया है—यदि ये सब गुण ही हैं तो एक स्थान में दो परस्पर विरोधी गुण, उत्पत्ति और विनाश कैसे पाए जा सकते हैं? एक ही जगह बनने और नष्ट होने से प्रकट होता है कि गुणों के पीछे गुणों को धारण करनेवाली कोई और शक्ति है।

भगवद्गीता के अध्याय नौ के श्लोक १६[५] एवं १७[६] में भी बौद्धों की आपत्ति का उत्तर दिया गया है, 'वे गुण और गुणी एक ही हैं, अलग नहीं किए जा सकते।' इसी प्रकार अध्याय सात के श्लोक १९[७] में कहा गया है, 'यह सब वासुदेव ही है, गुण केवल उसे प्रकट करते हैं।'

वेद, उपनिषद् तथा भगवद्गीता और अंतिम तत्त्व

एक वेदमंत्र में कहा गया है कि 'अग्नि, वायु, आदित्य आदि सब उसी को प्रकट करते हैं। वह एक सत्य है। बुद्धिमान लोग उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं।'

---

१ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

२ यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

३ न कर्तृत्वं न कर्माणिलोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

४ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

५ अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

६ पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च॥

७ बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

कई अन्य वेदमंत्र हैं, जिनमे बताया गया है कि शुद्ध ब्रह्म हमारी समझ और विचार की शक्ति से बाहर है। ब्रह्म को हम उसकी रचना के द्वारा ही जान सकते हैं, जैसा कि मनुष्य को हम उसके शरीर से जानते हैं। विराट् रूप में प्रकट हुआ ब्रह्म शबल, चितकबरा रूप कहलाता है।

एक उपनिषद् में कहा गया है, 'ब्रह्म में ईक्षा या स्फुरण हुआ कि इन जीवों में प्रवेश करके शब्द और रूप की व्याख्या करूँ।' ब्रह्मांड को मनुष्य केवल नाम और रूप से जान सकता है।

भगवद्गीता के अध्याय तेरह के श्लोक १२[१] में कहा गया है, 'उस ब्रह्म का आदि-अंत नहीं है। उसे हम न सत् कह सकते हैं, न असत्।' अध्याय पंद्रह के श्लोक १२[२] और १३[३] में बताया गया है, 'सूर्य, अग्नि और चाँद की ज्योति मैं ही हूँ। पृथ्वी पर मेरी ही शक्ति सबको सहारा देती है। चाँद के अंदर मैं ही सोम बनकर वनस्पतियों को बढ़ाता हूँ। सभी प्राणियों के अंदर वैश्वानर, संजीवनी शक्ति[४] होकर जीवन कायम रखता हूँ।' अध्याय नौ के श्लोक १५[५] में वेदमंत्र का विचार पाया जाता है, 'ज्ञानी लोग मुझ एक को विश्व की समस्त अभिव्यक्तियों में प्रकट हुआ जानकर पूजते हैं।' इसी आशय को सामने रखकर अध्याय तेरह के श्लोक १४[६] में कहा गया है, 'वह हर प्रकार से निर्गुण है; परंतु सभी गुणों को धारण करनेवाला भी वही है।' इसका तात्पर्य यह है कि निरपेक्ष रूप से देखने पर वह निर्गुण और सापेक्ष रूप से देखने पर सर्वगुण प्रतीत होता है।

---

१ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

२ यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

३ गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

४ संजीवनी शक्ति—Vitality (वाइटैलिटी)।

५ ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

६ सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

यह ब्रह्मांड ब्रह्म के अंदर एक विचार है

भगवद्गीता के अध्याय नौ के श्लोक ४[1] और ५[2] में कहा गया है, 'हे अर्जुन, मैं तुमको सबसे बड़ा और गुप्त भेद बताता हूँ। यह संसार मुझ अव्यक्त से फैला हुआ है। उत्पन्न हुई सभी चीजें मेरे अंदर हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ। उत्पन्न हुई ये सब चीजें मेरे अंदर नहीं भी हैं। मेरी अद्भुत शक्ति को देखो। मेरी आत्मा समस्त ससार को पैदा करती है; यद्यपि यह सबकुछ वह आत्मा है, परंतु वह इनमें नहीं है।' एक उदाहरण इस समस्या को हल कर देता है। लेखक के दिल में अपनी पुस्तक का और चित्रकार के दिल में अपने चित्र का नक्श मौजूद होता है। यह नक्श चित्रकार का है और चित्रकार की कला तथा योग्यता नक्श से प्रकट होती हैं, इस दृष्टि से चित्रकार उसके अंदर है; परंतु पुस्तक या चित्र से लेखक या चित्रकार को पूर्णतया नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार वह उससे पृथक् होता है। समस्त सृष्टि ब्रह्म के अंदर एक नक्श[3] के समान है। हम सब उस नक्श का एक अंश हैं। यदि उस नक्श को 'उपाधि' कहा जाए तो हम भी उपाधि के एक भाग हैं। हमारा समस्त ज्ञान सोपाधि हो सकता है। हमारे दृष्टिकोण से यह सारा विचार या नक्श सर्वथा सत्य और वैसी वास्तविकता रखनेवाला है जैसी हम अपने अस्तित्व के विषय मे अनुभव करते हैं; परंतु ब्रह्म-ज्ञान उपाधि से रहित निर्विकल्प है। इस दृष्टि से इस नक्श की वास्तविकता कुछ वैसी ही कही जा सकती है जैसी हमारे मन के उन खयाली किलों की होती है, जो हम शेखचिल्ली की तरह बनाते हैं।

दोनों दृष्टियों के विचार करने का फल यह निकलता है कि जिस सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में हम ब्रह्म के उद्देश्य की खोज करते हुए 'क्यों?' आदि प्रश्न करते हैं, वह हमारे लिए वास्तविक होने पर भी ब्रह्म के लिए कोई विशेष अस्तित्व नहीं रखती। श्री शंकराचार्य इस बात को दूसरे शब्दों में प्रकट करते हैं, 'जिस प्रकार स्वप्न के समय यह सवाल नहीं पैदा होता कि यह स्वप्न क्यों आ रहा है उसी प्रकार जब तक माया का प्रभाव प्रभुत्व जमाए रखता है तब तक यह सवाल भी गलत होता है कि यह संसार क्यों बनाया गया। माया का प्रभाव दूर हो जाने पर ज्ञानचक्षु खुल

---

१ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

२ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

३ नक्श—Conception (कॉनसेप्शन)।

जाते हैं और यह प्रश्न उठता ही नहीं।[१]

वर्तमान दार्शनिक किस परिणाम पर पहुँचे हैं?

वर्तमान काल के दार्शनिक भी अंतिम तत्त्व के संबंध में ऐसे ही परिणामों पर पहुँचते हैं। हरबर्ट स्पेंसर[२] अंत के दो तत्त्वों को मानता है। इन्हें वह माद्दा और ताकत कहता है। इनकी वास्तविकता जानने में असमर्थ होने से वह इनको अज्ञेय[३] नाम देता है।

हैकल एक कदम आगे बढ़कर यह कहता है कि माद्दा और ताकत—दोनों एक ही वस्तु हैं। वह इसे वस्तु नाम देता है। इसके साथ ही वह शॉपनहावर की तरह अद्वैत को ठीक मानता है।

शॉपनहावर[४] ने तो कहा है कि अद्वैत एक प्रकार की नास्तिकता है। यदि ब्रह्मांड अपनी आंतरिक शक्ति से चल रहा है और इससे अलग और कोई हस्ती नहीं है तो अल्ला मियाँ को साफ जवाब मिल जाता है।

हैकल का मत है कि अद्वैत में ईश्वर प्रकृति से अलग काम करनेवाला नहीं है। ये दोनों एक ही हैं। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि केवल वेदांत ही वर्तमान विज्ञान का मज़हब हो सकता है।

मत्सीनी या मैजिनी भी इसी बात का अनुमोदन करता है। वह कहता है कि मैं आत्मा के असंख्य प्रदर्शनों को मानता हूँ। आत्मा एक मंजिल से उन्नति करती हुई दूसरी में पहुँचती है। इसे सदा के लिए दोजख (नरक) की आग में रखना न केवल खुदा के न्याय एवं दया से परे है बल्कि उसके खिलाफ एक इल्जाम भी है। तुम्हारा मजहब खुदा को मनुष्य की श्रेणी में ले आता है; मेरा मज़हब मनुष्य को उन्नति करते-करते खुदा बनाता है। खुदा की मेहरबानी[५] पर भरोसा रखना फजूल है। केवल पुरुषार्थ ही हमें ध्येय तक ले जाता है। इस प्रकार मेरा मज़हब जीवन के क्रमिक उत्कर्ष का सिलसिला है।

---

१ देखिए, उनकी मांडूक्य उपनिषद् की टीका, अध्याय तीन (अद्वैत प्रकरण) २९-३० (गीता प्रेस का पाँचवाँ संस्करण), पृ. १६५-६६, और वही अध्याय चार (शांति रस प्रकरण) ६१-६२, २४३।

२ हरबर्ट स्पेंसर, दे. वही, पृ. ५४९।

३ अज्ञेय—Unknowable (अननोयबल)।

४ ए. शॉपनहावर, दे. वही, पृ. ४९८, और एफ.ए. लांगे, 'हिस्ट्री ऑफ मेटीरियलिज्म' पृ. १८९-९०।

५ खुदा की मेहरबानी—Grace (ग्रेस)।

अंतिम तत्त्व और प्राचीन दार्शनिक

प्राचीन कला के दर्शनवेत्ता भी इसी विचार पर आ ठहरे। मिस्र में प्राचीन समय से वेदांत का बीज विद्यमान रहा है। फैसागोरस[1] ने आर्य दर्शन की लहर को यूनान या ग्रीस में चलाया। आइयानिक मत[2] के दार्शनिक एनेक्सामेंडर[3] ने यह शिक्षा फैलाई कि यह संसार ही ब्रह्म है। इसी में बार-बार प्रलय और उत्पत्ति होती रहती है। एंपोडाक्लीज[4] भी प्रकृति और पुरुष को एक मानता था।

मध्य युग में रोमन कैथोलिक चर्च और इसलाम—दोनों सेमेटिक या पैगंबरी मज़हबों ने इस सिद्धांत को दबाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इन विचारों को रखने और उनका प्रचार करने के अपराध में गिआरदिनोब्रूनो[5] रोम में जिंदा जलाया गया। शम्स तबरेज़ और मंसूर इसलाम के जब्र और धर्मांधता के शिकार हुए। इस पर भी ईरान में अलगजाली तथा हाफ़िज़ और सीरिया में ज़लालुद्दीन रूमी इसी विचार के अंदर मगन रहे और इसका प्रचार करते रहे। यूरोप के दर्शनवेत्ता स्पिनोजा[6] और गेटे[7] इसी विचार के रंग में रँगे हुए थे।

□

---

१. फैसागोरस (पाइथागोरस)। दे. डब्ल्यू.टी. स्टेस, 'ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी', पृ. ३१-३२।

२. आइयानिक मत—ढ्ढशठ्ठद्ध० ह्यष्द्धशशद्य (आइयानिक स्कूल)।

३. एनेक्सामेंडर, दे. फिल्वी, पृ. २५।

४. एंपोडाक्लीज, दे. वही, पृ ४३।

५. जी. ब्रूनो, दे. वही, पृ. २७१।

६. श्री स्पिनोजा, दे. वही, पृ. ३२२-२७।

७. गेटे, दे. वही, पृ. ४५२, ४६५, ४७२, ४७५।

पाँचवाँ परिच्छेद

सृष्टि-उत्पत्ति : दैवी विकास

संसार में कार्य-कारण का सिलसिला

भगवद्गीता के अध्याय दस के श्लोक ८[1] में कहा गया है, 'सृष्टि मुझसे उत्पन्न हुई है।' अध्याय नौ का श्लोक १०[2] कहता है, 'मेरी अध्यक्षता में चर और अचर सृष्टि पैदा होती है।' अध्याय चौदह का श्लोक ३[3] बतलाता है, 'मेरी योनि महत् ब्रह्म है। मैं उसमें बीज डालता हूँ और तब सबकुछ उत्पन्न होता है।'

हम कोई स्रष्टा मानें या न मानें, इस बात से तो कोई इनकार नहीं कर सकता कि संसार में परिवर्तन का एक ही नियम काम करता है। बौद्ध लोग इसे कर्म या नियम कहते हैं। हम इसे कार्य-कारण संबंध का नाम दे सकते हैं। संसार में कोई चीज अचानक या केवल संयोगवश नहीं होती। प्रत्युत हर चीज का पहले कोई कारण होता है, जिसका वह कार्य होती है। सूर्य का ताप कारण है, भाप की उत्पत्ति कार्य। अब यह भाप उन बादलों का कारण है, जो उसका कार्य हैं। फिर बादल कारण बन जाते हैं और बरसात कार्य होता है। वर्षा कारण हो जाती है और वह अन्न उसका कार्य होता है, जिससे प्रायः सभी प्राणी बढ़ते हैं। इस प्रकार यह

---

१ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

२ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

३ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

सिलसिला चलता जाता है।

एक प्रसिद्ध प्रश्न है—बीज पहले उत्पन्न हुआ या वृक्ष? यह इस प्रकार हल होता है, 'बीज कारण है और कारण प्रकृति के साथ सदा विद्यमान रहता है।' एक बत्ती सैकड़ों विभिन्न कारणों के होने से बनती है और उसके जलने पर कितने ही भिन्न परिणाम उत्पन्न होते हैं। छोटी-से-छोटी गति बड़े-से-बड़ा नतीजा पैदा कर सकती है। कार्लाइल ने एक जगह कहा है, 'जब हम एक पत्थर उठाकर दूसरी जगह फेंकते हैं, तब इससे पृथ्वी का गुरुत्व-केंद्र बदल जाता है।'

माद्दा और अंतिम कारण—परमाणु

हिंदू शास्त्रों में कारणों के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—उपादान, निमित्त और साधारण। घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, निमित्त कारण कुम्हार और साधारण औजार वगैरह। संसार में जो कुछ हमें इंद्रियगोचर होता है, उस सबका उपादान कारण, माद्दा या प्रकृति है।

वैशेषिक दर्शन में प्रकृति के बाईस तत्त्व बतलाए गए हैं। आजकल के रसायनविद् पहले बहत्तर तत्त्वों को मानते थे, परंतु रेडियम के आविष्करण से रसायनशास्त्र में क्रांति आ गई है। अब यह सिद्ध हुआ है कि ये बहत्तर तत्त्व भी आगे ऐसे ही और ज्यादा बारीक जर्रों या कणों से बने हुए हैं, जिससे एक तत्त्व के कण दूसरे तत्त्व के रूप में परिणत हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि वास्तव में माद्दा केवल एक ही प्रकार के कणों से बना हुआ है। इन कणों को अणु और परमाणु कहा गया है। एक अणु का व्यास १/५०,००० इंच और एक परमाणु का १/५०,००,००० इंच माना गया है। यह भी हिसाब लगाया गया है कि एक घनमूलीय इंच वस्तु में इक्कीस लाख पद्म (२१,००,००,००,००,००,००,००,००,००,०००) अणु पाए जाते हैं।

ताप, आवाज आदि शक्तियों का स्रोत एक है

भौतिक विज्ञान भी इसी परिणाम पर पहुँचता है कि बिजली, ताप, आवाज, प्रकाश, चुंबकत्व आदि सभी प्राकृतिक शक्तियाँ एक-दूसरी में तब्दील हो सकती हैं। ये सभी एक ही शक्ति से निकली हुई मानी जा सकती हैं, जिसे 'फोर्स' या 'एनर्जी' कहा जाता है। यह फोर्स गति का नाम है, जो माद्दा के अंदर काम करती है। यह गति प्रायः कंपन के रूप में दिखाई देती है। हवा के अंदर गति होने से आवाज, ठोस चीजों के अंदर गति होने से ताप और सूर्य की किरणों की गति से

चीजा के रग बनते हैं जो वस्तु सूर्य की किरणो से उत्पन्न हुई लहरो को अपने अंदर जज्ब कर लेती है, वह काले रंग की और जो सभी लहरों को वापस कर देती है, वह सफेद रंग की दिखलाई देती है।

हर्बर्ट स्पेंसर कहता है कि माद्दा और ताकत कभी अलग-अलग नहीं रह सकते और यह समस्त ब्रह्मांड इन दोनों के गुणन तथा विभाजन का फल है। आजकल यह खयाल ज्यादा जोर पकड़ता जाता है कि माद्दा और ताकत—दोनों वास्तव में एक ही हैं। अंतर केवल इतना है कि कंपन के बहुत ही तेज होने पर वह 'फोर्स' के रूप में और बहुत ही मंद होने पर वह माद्दा के रूप में प्रकट होती है।

भगवद्गीता और अव्यक्त ब्रह्म

विज्ञान वस्तुओं की बाह्य खोज में बाहर से चलकर अंदर जाता है। दर्शन और मजहब ब्रह्मांड की आंतरिक खोज करते हुए अंतिम तत्त्वों पर आकर मिल जाते हैं। भगवद्गीता के अध्याय दो का श्लोक २८[१] कहता है, 'हम वस्तुओं के आरंभ और अंत को नहीं जान सकते, केवल उनके बीच की अवस्था को समझ सकते हैं।' इतना तो हमें स्पष्ट नजर आता है कि जड़ होने के कारण माद्दा अकेला कुछ नहीं कर सकता और 'फोर्स' या ताकत बिना ज्ञान के अंधी है। इसलिए भगवद्गीता के अध्याय सात के श्लोक ५[२] और ६[३] में कहा गया है, 'परा प्रकृति और अपरा प्रकृति (अर्थात् माद्दा और ताकत) मुझसे सहारा लेकर चलती हैं।' अध्याय आठ के श्लोक २०[४], २१[५] और २२[६] में भी साफ कहा गया है, 'इन तत्त्वों से परे एक और बड़ा अव्यक्त है, जो कभी प्रकट नहीं होता, परंतु उससे सबकुछ

---

१ अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

२ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

३ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

४ परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

५ अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

६ पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

प्रकट होता है अध्याय पद्रह के श्लोक १७[1] मे उसे पुरुषोत्तम कहा गया है जो दोनों पुरुषों, अर्थात् क्षर और अक्षर, से परे है और तीनो लोको के अदर रहता हुआ उनको आश्रय देता है।

ऊपर कहा गया है कि पुरुषोत्तम को जानना तो एक ओर रहा, हम प्रकृति की दोनों अवस्थाओं—माद्दा और ताकत—की वास्तविकता को भी नहीं जान सकते। हाँ, इनके द्वारा पड़े हुए संस्कारों का ज्ञान हमें जरूर होता है। इन संस्कारों से ही हम इतना समझ सकते हैं कि इन शक्तियोंवाला ब्रह्म है। आश्चर्य की बात है कि विभिन्न मज़हबों से संबंध रखनेवाले लोग माद्दा अर्थात् प्रकृति संबंधी ज्ञान से तो इतनी घृणा करते हैं और जिस ब्रह्म का कोई ज्ञान संभव नहीं, उसे राजगीर-सा समझकर उसके ज्ञान के इतने लंबे-चौड़े दावे करते हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति में आदि विकास

अध्याय चौदह के श्लोक ४[2] और ५[3] में कहा गया है, 'जो कोई पदार्थ किसी रूप में प्रकट होता है, उसकी योनि महत् ब्रह्म है और मैं उसमें बीज देनेवाला पिता हूँ।' प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। ये गुण जीव को शरीर से बाँधते हैं। अध्याय तेरह के श्लोक ५[4] और ६[5] में कहा गया है, 'मूल प्रकृति (अव्यक्त), बुद्धि (महत् तत्त्व), अहंकार, पाँच महत् तत्त्व, ग्यारह इंद्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और साहस—ये सब प्रकृति के ही विकार हैं।'

संसार में सबसे पुराना दर्शन, जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति के लिए विकास के सिद्धांत की शिक्षा दी गई है, सांख्य है। 'उत्पत्ति' शब्द ही, जो सृष्टि की पैदाइश के लिए प्रयुक्त होता है, विकास के शाब्दिक अर्थ को प्रकट करता है। उत्पत्ति का जो

---

१ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

२ सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

३ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥

४ महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

५ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

क्रम भगवद्‌गीता मे दिया गया है उस जैसा ही मनुस्मृति आदि तथा कई पुराणो में भी पाया जाता है। इसके अनुसार ब्रह्म दो शक्तियों में प्रकट होता है। मनु ने कहा है, 'आधा ब्रह्म स्त्री बना।'[१] संभव है, तौरेत में आदम की पसली से हवा का निकलना मनु से लिया गया हो। पुरुष और प्रकृति को कवित्वमय भाषा के बीज के रूप में 'नर' और 'मादा' कहा गया है। प्रकृति से महत् तत्त्व अर्थात् बुद्धि बनती है। इस बुद्धि को भगवद्‌गीता में 'योनि' कहा गया है। मनुस्मृति (१/५-१९) में इसको हिरण्यगर्भ अंडा बताया गया है। इस महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से विभिन्न प्रकार के भेद शुरू होते हैं। अहंकार ही पृथकत्व उत्पन्न करता है। किसी जीव, उदाहरणार्थ—चींटी से भी यदि प्रश्न किया जाए कि संसार के दो हिस्से कौन से हैं, तो वह यही उत्तर देगी—एक मैं और दूसरा शेष सारी दुनिया। अहंकार से सृष्टि के दो भाग हो जाते हैं—सह-इंद्रिय और निरिंद्रिय। इनमें से पहले भाग से पाँच ज्ञान-इंद्रियाँ तथा पाँच कर्म-इंद्रियाँ और दूसरे भाग से पाँच तन्मात्राएँ—पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि और वायु—बनती हैं। आकाश का गुण शब्द है : आकाश बदलकर हवा बनता है, जिसका गुण स्पर्श है। इससे तेज, जिसका गुण रूप है। तेज से पानी, जिसका गुण रस है। पानी से मिट्‌टी, जिसका गुण गंध है। इनमें से बाद में आनेवाले हर एक में एक-एक गुण अधिक होता जाता है। इन पाँच में मन और बुद्धि मिलने से ये सात हो जाते हैं। इन सात तत्त्वों के मिलमे से समस्त सृष्टि बनती है।[२]

भगवद्‌गीता के अध्याय दस के श्लोक १६ में सात ऋषियों, चार पूर्वजों और मनु की उत्पत्ति का उल्लेख है। यह किन्हीं विशेष व्यक्तियों की तरफ इशारा नहीं मालूम होता। प्रत्युत, जैसाकि मांडूक्य उपनिषद् में लिखा है—सात ऋषियों का अर्थ सात इंद्रियाँ, चार पूर्वजों का अर्थ—मन, चित्त, बुद्धि तथा अहंकार और मनु का अर्थ मनुष्य है। इससे पहले और बाद के श्लोकों में भी केवल गुणों का उल्लेख है, व्यक्तियों का नहीं।

यह संक्षिप्त सा वृत्तांत है, जो हिंदू शास्त्रों में प्रकृति के अंदर आदि-विकास का मिलता है।

---

१ द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥ *(मनुस्मृति, १/३४)*

२ महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ *(गीता, १०/६)*

वाष्पारंभवाद और आदि-विकास

वर्तमान विज्ञान की उन्नति हो जाने पर सृष्टि-उत्पत्ति का जो मत स्वीकार किया गया है, वह लैपलेस और कान्ट का वाष्पारंभवाद है। यह मत स्पष्ट शब्दों में आर्य-शास्त्रों के सिद्धांत का ही वर्णन करता है। अंतर इतना है कि इसमें ब्रह्म और पुरुष का कोई उल्लेख नहीं है। यह केवल प्रकृति से इस प्रकार शुरू होता है—माद्दा पहले-पहल परमाणुओं की वाष्प के रूप में था। (इस वाष्प को नेबुली कहा गया है।) इस भाप में गति की प्रक्रिया आरंभ हुई, जिससे यह ईथर अर्थात् आकाश में परिणत हो गई। 'फोर्स' या गति के रूप में प्रकट हो ईथर दो प्रकार का हो जाता है—एक केंद्रीय, दूसरा महबरी। यह गति इतनी तेज होती है कि इसके कारण गैसवाली आग के कई टुकड़े हलकों या मंडलों की शक्ल में बन जाते हैं। केंद्र में सबसे बड़ा मंडल रहता है, जिसकी स्थिति सूर्य की होती है। इसके इर्द-गिर्द सभी दिशाओं में आग के गोलों के रूप में नभमंडल उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें से एक हमारी पृथ्वी है। धीरे-धीरे ये मंडल अपना ताप बाहर निकालने पर ठंडे होने शुरू हो जाते हैं। पहले तो तरल, फिर अधिक ठंडे होने पर ऊपर से ठोस रूप ग्रहण करते हैं। ठोस होने के बाद ये इस योग्य होते हैं कि इन पर जीवन कायम रह सके। पृथ्वी के आंतरिक भाग में अभी तक आग-ही-आग है। यदि पृथ्वी को एक हजार फीट नीचे खोदा जाय तो इसमें पानी को उबालनेवाला ताप होता है। सूर्य, पृथ्वी आदि से यह ताप दिन-प्रतिदिन निकल रहा है।

सूर्य की गरमी जब बहुत कम हो जाएगी, तब पृथ्वी टुकड़े-टुकड़े होकर चकनाचूर हो जाएगी। तत्पश्चात् इसके अंदर वह प्रक्रिया शुरू होगी, जो उत्पत्ति के उलट हिंदू शास्त्रों में 'प्रलय' कहा गया है। एक समय आता है, जब समस्त ब्रह्मांड में ही यही प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। इसका वर्णन यों किया गया है—चल और अचल, सभी नष्ट हो जाते हैं। गंध को जज्ब करके सर्वत्र जल-ही-जल हो जाता है। तब सबको अग्नि जज्ब कर लेती है। इसमें सूर्य भी छिप जाता है और फिर हवा सबको जज्ब करती है। तब रूप नहीं रहता। फिर स्पर्श आकाश में मिल जाता है। शेष शब्द ही रह जाता है। शब्द को मन जज्ब कर लेता है। मन और बुद्धि को काल निगल जाता है तथा काल का लय ब्रह्म में हो जाता है।

ब्रह्मांड और विज्ञान

ब्रह्मांड के विषय में ज्योतिष, भूगर्भ आदि विद्याएँ कई बातें बतलाती हैं। यह सर्वमान्य बात है कि प्रकाश की रफ्तार एक लाख छियासी हजार मील प्रति

सेकंड है। सूर्य जमीन से इतना दूर है कि उसका प्रकाश पृथ्वी पर पहुँचने मे आठ मिनट लगते हैं। बुध आदि कई ऐसे सितारे हैं, जिनका प्रकाश पृथ्वी तक आने में कई दिनों का समय लग जाता है। आल्फा सेंटार वे सितारे हैं, जिनका प्रकाश तीन वर्ष के बाद पृथ्वी पर पहुँचता है। साइरस का प्रकाश बीस वर्ष के बाद और आकाशगंगा का प्रकाश दो हजार वर्ष बाद पृथ्वी तक आता है। कुछ ऐसे नेबुली हैं, जिनका प्रकाश उत्पत्ति काल से चल रहा है, परंतु अभी तक पृथ्वी पर नहीं पहुँचा।

इसी प्रकार भूगर्भ विद्या का विद्वान् हक्सले लिखता है कि पृथ्वी की बनावट के अंदर विभिन्न प्रकार की तहें पाई जाती हैं और उनमें से हर एक तह के बनने में कई युग लगे हैं। पृथ्वी के अंदर एक तह कोयले की है, जिसके बनने में साठ लाख वर्ष का समय लगा है। चार्ल्स लायल ने चाक की तहों की बनावट से अनुमान लगाया है कि पृथ्वी को वर्तमान रूप में आने में बीस करोड़ वर्ष लगे होंगे। इससे पूर्व का हिसाब लगाने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। इसके मुकाबले पर हिंदू ज्योतिष-शास्त्र सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय के काल का कटा-छँटा एक हिसाब हमारे सामने रखता है।

ब्रह्मांड और भगवद्गीता

भगवद्गीता के अध्याय आठ के श्लोक १६[१], १७[२], १८[३] और १९[४] में ब्रह्मरात्रि और ब्रह्मदिन को एक हजार युगों का बताया गया है। ब्रह्मलोक अव्यक्त रात से निकलकर एक हजार वर्ष तक दिन की हालत में रहकर प्रलय को प्राप्त हो जाता है। श्लोक २३[५] और २४[६] में दक्षिणायन और उत्तरायण में मरने का उल्लेख

---

१ आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

२ सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

३ अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

४ भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

५ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥

६. अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

है उपमा के तौर पर वे केवल ज्ञान और अज्ञान की अवस्थाओ की ओर सकेत करते हैं। दक्षिणायन और उत्तरायण से युगों की गिनती शुरू होती है।

ज्योतिष-शास्त्र में सृष्टि के दिन-रात का हिसाब इस प्रकार लगाया गया है—छह मास का उत्तरायण अर्थात् देव का एक दिन और छह मास का दक्षिणायन अर्थात् देव की एक रात्रि कहलाते हैं। इस तरह तीन सौ साठ दिन और रात के मिलने से देव का एक वर्ष बनता है। ऐसे चार हजार चार सौ देव वर्षों का सत्ययुग; तीन हजार तीन सौ देव वर्षों का त्रेतायुग; बाईस सौ देव वर्षों का द्वापरयुग और ग्यारह सौ देव वर्षों का कलियुग होता है। बारह हजार देव वर्षों का एक महायुग होता है, इकहत्तर महायुगों का एक मन्वंतर और चौदह मन्वंतरों का एक कल्प होता है, जिसमें सृष्टि का आधा काल गुजर जाता है।

जीवन के चिह्न और प्रकृति

रसायन-शास्त्र विभिन्न वस्तुओं को सजीव और निर्जीव भागों में बाँटता है। सजीव माद्दा में विशेषत: कार्बन का अंश अधिक एवं पेचीदा मिश्रणों में पाया जाता है। यूरोप के विद्वानों को जीवन का बीज ढूँढ़ने पर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। जहाँ तक सजीव माद्दा का संबंध है, उसकी उत्पत्ति एवं क्रमिक उन्नति की बात विकास के सिद्धांत के अनुसार स्पष्टतया बताई जा चुकी है। अब यह मालूम करना बाकी है कि जीवन का आरंभ क्योंकर और कहाँ से होता है। यह समस्या अभी तक हल करने योग्य समझी जाती है, यद्यपि सर जगदीशचंद्र बसु के अन्वेषण ने इस प्रश्न पर बहुत प्रकाश डाला है। उन्होंने प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जीवन केवल सजीव माद्दा में ही विशेषतया प्रकट नहीं होता, बल्कि निर्जीव माद्दा अर्थात् खनिज पदार्थों के अंदर भी वह वैसी ही अवस्था में पाया जाता है। जीवन के बड़े चिह्न 'बाह्य वस्तुओं से प्रभावित होना' और आकर्षण तथा द्वेष या निराकरण धातुओं के अंदर भी वैसे ही पाए जाते हैं। कुछ विशेष धातुएँ सदा खास शक्ल के स्फटिकों में ही पाई जाती हैं। इन स्फटिकों से उन धातुओं की पहचान की जाती है। जब उनको मार दिया जाए तब वैसे स्फटिक नहीं बनते। अम्लजन और आर्द्रजन गैसों, जिनके मेल से पानी बनता है, में पारस्परिक आकर्षण उसी प्रकार है जिस प्रकार नर के शुक्र और मादा के रज में होता है। कुछ निर्जीव मूल तत्त्व आपस में मेल करते हैं; परंतु जब कहीं इनको अपना आकर्षण रखनेवाला मित्र मिल जाता है, तब ये अपने अस्थायी या तात्कालिक साथी को छोड़कर तुरंत असली मित्र से जा मिलते हैं। आकर्षण और

निराकरण के ये गुण आरंभिक परमाणुओं में केंद्रीय और महबरी गर्दिश के कारण एक तरफ खींचते और दूसरी तरफ हटाते हैं। पशुओं में आकर यही गुण राग-द्वेष के रूप में प्रकट होते हैं।

जीवन के लक्षण में उन्नति

हिंदू शास्त्रों में जीव के लक्षण राग, द्वेष, सुख, दुःख, इच्छा और प्रयत्न बताए गए हैं। जीव जीवन या जिंदगी के अर्थ में समझना चाहिए। जीवन विद्या के जाननेवालों ने भी जीवन के लक्षण प्रायः ऐसे ही बताए हैं। जीवन का बीज प्रकृति के अंदर पुरुष बनकर आरंभ से ही हर सजीव वस्तु में विद्यमान होता है और उसकी भावी उन्नति बाह्य तथा आंतरिक परिस्थिति पर निर्भर होती है। बाह्य संस्कारों से प्रभावित होकर हर एक सजीव वस्तु को आंतरिक रूप से अपने आपको उसके अनुकूल बनाना पड़ता है। विशेष संस्कारों द्वारा बार-बार प्रभावित होने से वे विशेष शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनको इंद्रियाँ कहा जाता है। इन्हीं बाह्य संस्कारों के अधीन हर एक प्राणी के ऐसे बाह्य भाग—खाल और नसें—पैदा हो जाते हैं, जिनके द्वारा संस्कार शरीर के अंदर प्रवेश करते हैं।

प्राणि-विद्या का अध्ययन इस बात को स्पष्ट करता है कि किस प्रकार बहुत छोटे स्तर के प्राणियों में केवल एक ही इंद्रिय होती है। इसी से वे अपना सारा काम करते हैं। इर्द-गिर्द की परिवर्तनशील परिस्थिति ज्यों-ज्यों उन पर अपना प्रभाव डालती है त्यों-त्यों उनमें विभिन्न हवास* और इंद्रियों की विधिपूर्वक उन्नति होती जाती है। पहले-पहल सभी प्रभाव केवल त्वचा या बाह्य खाल पर होते हैं। धीरे-धीरे रीढ़ उत्पन्न होती है। इसके साथ मस्तिष्क बनता है। यह मस्तिष्क या दिमाग समझदार पशुओं के अंदर अधिक उन्नत अवस्था में होता है। वहशी या असभ्य मनुष्य का मस्तिष्क पशुओं के मस्तिष्क के समान होता है। सभ्य मनुष्य के अंदर मस्तिष्क बहुत उन्नत अवस्था में पाया जाता है। उनकी उन्नति के साथ-साथ इंद्रियों की उन्नति होती है। इस प्रकार निरिंद्रिय अहंकार से उत्पन्न हुए पाँच भूत सह-इंद्रिय प्रकृति पर प्रभाव डालकर इंद्रियों का अस्तित्व स्थूल अवस्था में ले आते हैं। सांख्य-शास्त्र इसके साथ एक अन्य बात जोड़ देता है। वह यह कि यद्यपि सह-इंद्रिय प्रकृति पर प्रकाश का प्रभाव पड़ने से आँख उत्पन्न होती है, परंतु देखने की इच्छा पहले से ही विद्यमान रहती है।

---

* हवास—Senses (सेंसेज)।

गति और उत्पत्ति की सापेक्षता

भगवद्गीता के अध्याय तेरह के श्लोक १९[१] और २०[२] में कहा गया है, 'पुरुष और प्रकृति अनादि हैं। सभी गुण और विकार प्रकृति में उत्पन्न होते हैं। कार्य-कारण के क्रम का स्रोत भी यही है।' श्लोक ३०[३] में बताया गया है, 'जो मनुष्य अनेक को एक से निकले हुए जानता है, वही ज्ञान प्राप्त करता है; उसी प्रकार जिस प्रकार सूत एक ही होता है, परंतु कपड़े विभिन्न बनते हैं; लोहा एक ही होता है, परंतु औजार विभिन्न बनते हैं।' अध्याय चौदह का श्लोक १९ कहता है, 'प्रकृति पुरुष का स्वभाव है, पुरुष प्रकृति से परे है। जैसे मकड़ी अपने गिर्द जाला बुनती है और रेशम का कीड़ा अपने गिर्द कोश या कोकून बनाता है वैसे ही यह सारा संसार प्रकृति से बना है।'

यह सृष्टि प्रकृति के अंदर गति का परिणाम है। इसमें जन्म-मरण केवल रूप-परिवर्तन और गति-भेद के तौर पर हैं। गति सापेक्ष है। चलती गाड़ी में बैठे हुए मनुष्य को बाहर की स्थिर वस्तुएँ गतिमान नजर आती हैं। सांख्य का मत है कि प्रकृति अपने आपको पुरुष के सामने पुस्तक के पन्नों की तरह रखती जा रही है। जिस प्रकार किश्ती में बैठे हुए मनुष्य को नदी का किनारा चलता दिखलाई देता है उसी प्रकार पुरुष घूमती हुई प्रकृति को न जानकर अपने आपको गतिमान समझा करता है।

यदि संसार को समष्टिगत रूप से देखा जाय तो उसमें गति का होना संभव नहीं है। इसीलिए जब प्रकृति स्थिर हुई तो उसमें न गति हुई, न कुछ उत्पन्न हुआ और न कुछ नष्ट हुआ। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रह्म के दृष्टिकोण से न कभी कोई परिवर्तन होता है, न हुआ है; परंतु मनुष्य के दृष्टिकोण से उत्पत्ति और प्रलय वास्तविक घटनाएँ हैं और ये वैसी ही वास्तविकता रखती हैं जैसे आप और हम। इन दोनों दृष्टिकोणों को सदा सामने रखने से भगवद्गीता की वे समस्याएँ हल हो जाती हैं, जिनको कुछ लोग परस्पर विरोधी बातें समझते हैं। उदाहरणार्थ—

---

१ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥

२ कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

३ यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

भगवद्‌गीता के अध्याय तेरह के श्लोक १४[१] १५[२] और १६[३] मे कहा गया है ब्रह्म की इंद्रियाँ नहीं हैं, परंतु वह सबकुछ करता है। वह निर्गुण है, परंतु उसमें सभी गुण हैं। वह भीतर-बाहर से अचल है, परंतु गति करता है। वह दूर-से-दूर और निकट-से-निकट है। अभाज्य होकर भी वह विभक्त है। वह सृष्टि को उत्पन्न करता, चलाता और जज्ब करता है।'

□

---

१ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

२ बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

३ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

छठा परिच्छेद

भौतिक सृष्टि

वृक्ष और बीज

ऋषि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा, 'बड़ का एक बीज ले आओ।' वह ले आया। फिर कहा, 'इसको तोड़ो और देखो, इसमें क्या है?' उसने तोड़कर देखने के बाद उत्तर दिया, 'इसमें असंख्य नन्हे-नन्हे बीज हैं।' उसके अंदर से एक नन्हा सा बीज उठाकर उद्दालक ने कहा, 'देखो, इसमें क्या नजर आता है?' श्वेतकेतु बोला, 'बस, इस बीज के अतिरिक्त और कुछ नजर नहीं आता।' इस पर ऋषि उद्दालक ने कहा, 'जिसके अंदर तुमको कुछ दिखाई नहीं देता, वहाँ पर बड का एक वृक्ष है। इसी नन्हे बीज के अंदर वृक्ष का तना, शाखाएँ, पत्ते और फल पैदा करने के अवयव विद्यमान हैं।'*

एक उदाहरण लेकर देखिए। एक बड़ा सुंदर नगर है। उसके अंदर बडे शानदार महल, मकान और हवेलियाँ हैं। ये सब किससे बने हैं? ईंट, चूने और पत्थर से। ईंट, चूना और पत्थर क्या हैं? ये सब प्रायः रेत के कणों से मिलकर बनते है। अंत में ये कण या जर्रे हैं, जिनके मेल से इतनी बड़ी विभिन्नताओं का प्रदर्शन इस नगर के रूप में होता है।

---

* न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यामामङ्गैकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति॥ १॥ तं होवाच य वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति॥ २॥ *(छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, खंड १२)*

जीवन-कोश

हमने देखा है कि अणुओं से समस्त सृष्टि बनी है। जीव-विद्या (बॉयोलॉजी) हमें बतलाती है कि सभी प्रकार के प्राणी, जिनमें वनस्पतियाँ भी सम्मिलित हैं, बहुत ही बारीक बीजों से बनते हैं। इस बीज को कोश कहा जाता है। यह इतना छोटा होता है कि इसे नंगी आँखों से नहीं देख सकते। यह अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा देखा जाता है। यह कोश जीवन का केंद्र है। इसे हम 'जीवन-कोश' कह सकते हैं।

इस जीवन-कोश का आरंभ अभी तक मालूम नहीं हो सका। इसके विषय मे कई खयाल दौड़ाए गए हैं। एक विद्वान् का विचार है कि जब पृथ्वी जीवन उत्पन्न करने के योग्य हो गई, तब यह कोश शायद किसी दूसरे स्वतंत्र ग्रह से गिरकर पृथ्वी पर पहुँचा। ध्यान देने से मालूम होगा कि इस जीवन-कोश की बनावट और उत्पत्ति का कोई खास तरीका या समय ढूँढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ सा है। यदि जीवन-कोश का किसी विशेष समय में उत्पन्न होना संभव हो तो सभी वनस्पतियों तथा पशुओं के बीजों का वैसे ही एक खास वक्त में अलग-अलग उत्पन्न हो जाना संभव है। जब विज्ञान सभी प्रकार के प्राणियों को जीवन-कोश के विकास का फल ठहराता है तब कोई कारण नहीं कि जीवन-कोश को क्यो इस विकास क्रम से खारिज करके उसका कोई विशेष आरंभ ढूँढ़ा जाय। जिस प्रकार परमाणुओं के अंदर विकास की प्रक्रिया होने से इतने मूल तत्त्व और इन मूल तत्त्वों में इस प्रक्रिया से धातु बनते हैं, उसी प्रकार इन धातुओं के अदर विकास की प्रक्रिया से जीवन-कोश उत्पन्न हुआ है और इससे सभी प्रकार के प्राणी प्रकट हुए हैं।

जीवन-कोश की बनावट

जीवन-कोश (सेल) की शक्ल बहुत बारीक वृक्ष के जैसी होती है। इसके कई भाग होते हैं। जीवन रस या जीवनवाले भाग का नाम प्रोटोप्लाज्म रखा गया है। एक प्रोटोप्लाज्म में बारह करोड़ पचास लाख अणु होते हैं। (पुरुष के वीर्य के कोश का व्यास एक इंच का १$\frac{१}{२०}$ वाँ भाग होता है)। यह जीवन-कोश अपनी खुराक लेकर हज्म करना और फैलाना शुरू करता है। ये एक से दो, दो से चार, चार से सोलह के हिसाब से बढ़ते हैं। एक क्षण में इनकी संख्या हजारों-लाखों तक जा पहुँचती है। एक ही प्रकार के असंख्य कोश मिलकर जब एक ही काम करते हैं तब उनसे एक रेशा बनता है। बहुत से रेशे मिलकर शरीर के अंगों के विभिन्न भाग बनाते हैं, जो अपने-अपने खास काम करते हैं।

वनस्पतियों ओर पशुओ के अतिरिक्त प्राणियो का एक प्रकार है बैक्टीरिया ये प्राणी केवल अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा नजर आते हैं। तब साधारण ऑख एक इच के लाखवें हिस्से को इंच के दसवें हिस्से के बराबर देखती है। बैक्टीरिया की अगणित किस्में हवा, पानी और पृथ्वी के अंदर पाई जाती हैं। थोड़ी सी किस्मो के बैक्टीरिया गंदगी में पैदा होकर वबाई बीमारियाँ पैदा करते हैं। शेष किस्में हानिकर नहीं होतीं। इनका बड़ा कार्य सजीव माद्दा से सड़ाँध पैदा करके उसे फिर निर्जीव अवस्था में लाना है।

मानोजा जैसे बहुतेरे बैक्टीरिया केवल एक ही कोशवाले हैं। एक मानोजा इच का १/४०,००० वाँ भाग होता है। यदि घास का सत या पानी निकालकर रखा जाय तो दो दिन में वह बैक्टीरिया से भर जाएगा। अमीबा पहला प्राणी है, जो अणुवीक्षण यंत्र से अच्छी तरह नजर आता है। इसका जीवन-कोश स्वयं विभक्त होकर फैलता है। पशुओं के अंदर कोश की उन्नति वनस्पतियों से खुराक प्राप्त करने पर होती है। वनस्पतियों की मिकदार बढ़ाने का बड़ा कारण पत्तों में हरे रंग की एक चीज होती है, जिसे क्लोरोफिल कहते हैं। इसका काम यह होता है कि जानवर अपने अंदर से जो कार्बन द्विओषित[१] खारिज करते हैं, उसे हवा में से लेकर सूर्य की किरणों की सहायता से कोश की संख्या को बढ़ाए।

विभिन्न प्राणियों की उत्पत्ति

'मनुस्मृति' आदि में सृष्टि को चार भागों में विभक्त किया गया है—उद्भिज[२] अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियाँ, स्वेदज[३]—अर्थात् पसीने और मैल से उत्पन्न होनेवाले प्राणी, अंडज[४]—अर्थात् अंडों से उत्पन्न होनेवाले जीवधारी और जरायुज[५]—अर्थात् जरायु या जेर से पैदा होनेवाले प्राणी। वृक्ष, जूँ,

---

१ कार्बन द्विओषित—Carbornic acid gas या Carbon Dioxide (कार्बोनिक एसिड गैस या कार्बन डायोआक्साइड)।

२ उद्भिज्जाः स्थावरः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः॥ *(मनुस्मृति, १/४९)*

३ स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम्॥ *(मनुस्मृति, १/४८)*

४ अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥ *(मनुस्मृति, १/४७)*

५ पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मानुषाश्च जरायुजाः॥ *(मनुस्मृति, १/४६)*

मछली पशु आदि इनके उदाहरण हैं कहा जाता है कि मेढको के शरीर के सूखे हुए टुकड़े मिट्टी मे पड़े रहते हैं और बरसात मे फिर उन टुकड़ो से ही मेढक उत्पन्न हो जाते हैं।

यह तो सृष्टि के विभाजन का एक पुराना मोटा सा तरीका है। वर्तमान काल में डारविन को निस्संदेह जीवन-विद्या का प्रवर्तक समझना चाहिए। उसके अपने अनुभव और प्रयोगों से सभी जातियों का, विकास के द्वारा, धीरे-धीरे एक ही जाति से उत्पन्न होना सिद्ध किया है। इस सिद्धांत की झलक पतंजलि के योग-दर्शन (कैवल्यपाद) में भी मिलती है—'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्', प्रकृति को अपने अंदर जज्ब करने से एक जाति दूसरी में बदल जाती है। इसका अर्थ यह है कि बाह्य संस्कारों से प्रभावित होकर विकास के द्वारा जाति उन्नति करती है। इस प्रकार अपने अंदर प्रकृति के गुण एकत्र करता हुआ अमीबा एक दिन देवता बन सकता है।

यदि हमें खयाल रहे कि आरंभ में मनुष्य से केवल कुछ आवाजें निकलीं, जिनके निशान पर, बाद में, संकेत बनाए गए, तो एक जीवन-कोश से सृष्टि का होना आसान मालूम होगा। इन्हीं कुछ आवाजों के इकट्ठा होने से शब्द, शब्दों से भाषा और एक शब्द से हजारों भाषाएँ उत्पन्न हो गईं। इसी प्रकार आरंभ में दस तक गिनती बनी। इन दस अंकों के आधार पर ही गणित के लंबे-चौड़े और पेचीदा नियम बने हैं।

डारविन का सिद्धांत

डारविन ने मालूम किया कि इस विकास के अंतस्तल में एक अन्य सिद्धांत काम करता है, जिसे योग्यतम अवशेष* कहना चाहिए। 'योग्य' का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वह जरूर अच्छा ही हो, बल्कि यह कि वह अपने अंदर इर्द-गिर्द की परिस्थिति के साथ अधिक अनुकूलता पैदा कर सके। बाह्य परिस्थिति दो प्रकार की होती है—अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल परिस्थिति को अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करना और प्रतिकूल परिस्थिति से अपने बचाव का प्रयत्न करना, जीवन बनाए रखने के लिए आवश्यक है। यों भी यह स्वाभाविक बात है कि अनुकूल परिस्थिति के अंदर रहने से हर एक जानदार सुख अनुभव करता है और प्रतिकूल परिस्थिति के अंदर रहने से दुःख। इसी कारण पहले के लिए राग और

* योग्यतम अवशेष—Survival of the fittest. (सरवाइवल ऑफ द फिटेस्ट)।

दूसरे के लिए द्वेष बढ़ जाता है। इसी प्रकार अपने आपको जीवित रखने के लिए हर एक प्राणी को दूसरों के मुकाबले पर संघर्ष करना पड़ता है। इसी संघर्षकाल में एक जाति के अंदर भेद उत्पन्न हो जाते हैं और नई जाति की नींव पड़ जाती है। इससे निर्बल का विनाश होता है और बलवान् की उन्नति। उदाहरणार्थ—हिरणों को बलवान् पशुओं के शिकार हो जाने का भय रहता है। स्वभावत: तेज भागने मे ही उनका बचाव होता है। चयन-नियम के अनुसार केवल वही हिरन बच सकते हैं, जिनमें अधिक तेज भागने की योग्यता होती है। ऐसे हिरनों की नस्ल आगे उन्नति करती है। इसी प्रकार जहाँ अधिक सर्दी पड़ती है वहाँ लंबी-लंबी पशमवाले जानवरों की नस्ल उन्नति कर सकती है; अन्य जानवर सर्दी से जल्दी मर जाते है। झाड़ियों, पौधों और वृक्षों में रहनेवाले वही पतंगे उन्नति कर सकते हैं, जिनके रंग मे पत्तों से अधिक समानता होती है, क्योंकि पहचान में नहीं आने के कारण वे अन्य जानवरों के शिकार नहीं होते। समझदार प्राणियों की अवस्था में वही अधिक उन्नति करेंगे, जो अपनी बुद्धि से अपने आपको इर्द-गिर्द की परिस्थिति के अनुकूल बना सकेंगे।

मानव जाति तक आने में कितना समय लगा

इस प्रकार विभिन्न जातियाँ विकास और चयन के नियमों के अनुसार उन्नति करते-करते मानव जाति उत्पन्न करती है। इस विकास के उदाहरण हम अपने सामने मनुष्य की बनाई हुई चीजों—घड़ी, साइकिल, मोटर आदि के अदर पाते हैं। वर्तमान काल की घड़ी को पूर्ण होते लगभग तीन सौ वर्ष का समय लगा है। इन तीन सौ सालों में यह कई प्रकार की शक्लों से होकर गुजरी है। लकड़ी के खिलौनों से शुरू होकर सैकड़ों प्रकार की साइकिलों की क्रमश: उन्नति का परिणाम वर्तमान साइकिल है। अब यदि उन बीच की अवस्थाओं का पता लगाने का प्रयत्न किया जाय तो किसी दुकान से वे पुराने नमूने नहीं मिल सकते। इसी प्रकार प्रकृति भी उन नमूनों, जो उसके काम नहीं आते, को एक तरफ फेंकती जाती है। पुरातत्त्व विद्या से हमें इस विषय में बड़ी सहायता मिलती है।

पुरानी हड्डियों की खोज से मालूम हुआ है कि इस पृथ्वी पर तीन प्रकार के बडे पशुओं को कितना समय लगा है। पहला युग मछलियों का गिना जाता है। इसकी आयु तीन करोड़ चालीस लाख वर्ष बताई जाती है। इस काल में पृथ्वी पर केवल मछलियाँ ही विद्यमान थीं। इसके पश्चात् दूसरा काल रेंगनेवाले जानवरों का है, जिनकी आयु का अनुमान एक करोड़ दस लाख वर्ष लगाया गया है। इसके बीत

जाने पर वर्तमान काल दूध पिलानेवाले जानवरों का है जिनकी आयु के तीस लाख साल अब तक गुजर चुके हैं। इनसे भी पूर्व दो युग हड्डी-रहित प्राणियों के गुजरे हैं। इनकी आयु का अनुमान किसी प्रकार नहीं लग सका। इन प्राणियों में पहले एक जीवन-कोशवाले और बाद में इनके अतिरिक्त एक से अधिक जीवन-कोशोंवाले प्राणी थे। उन विभिन्न योनियों की संख्या, जिनमें से पशु-जीवन गुजरा है, गिनी नहीं जा सकती। जीवन-विद्या का विद्वान् हैकल अपनी पुस्तक 'लॉस्ट लिंक' में लिखता है कि जीवन के आरंभ होने से लेकर मनुष्य तक पहुँचने में छप्पन लाख तिहत्तर हजार योनियाँ होती हैं, जो लुप्त हो चुकी हैं या इस समय जीवित हैं। अचंभे की बात है कि पुराणों में भी ऐसा ही विचार पाया जाता है कि जीव को मनुष्य योनि प्राप्त करने तक चौरासी लाख योनियों से गुजरना पड़ता है।

मनुष्य और ब्रह्मांड

विकास के सिद्धांत पर कुछ लोग इसलिए हँसते हैं कि मनुष्य से निचली योनि बंदर है, अर्थात् एक दृष्टि से मनुष्य बंदर की संतति हुआ। सच तो यह है कि इस तथ्य से घबराने की कोई बात नहीं है। सृष्टि के आरंभ से परमाणुओं के विकास का सिद्धांत काम करता है, जिनसे समस्त ब्रह्मांड बनता है। यदि वही नियम प्राणियों के अंदर काम करते हुए नई-नई जातियाँ उत्पन्न करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। वहशी मनुष्यों के कई ऐसे जंगली कबीले अब भी पाए जाते हैं, जिनका ऊँची किस्म के बंदरों से भेद करना मुश्किल है। चीन और हिमालय के बीच में स्थित जंगलों में ऐसी शक्ल के जानवर हैं, जो मनुष्य और बंदर—दोनों से समता रखते हैं। हाल ही में जावा में पुरानी नस्ल की हड्डियाँ मिली हैं, जिनको वैज्ञानिकों ने पूँछ-रहित बंदरों के पंजर समझकर मनुष्य और बंदर को मिलानेवाली जाति ठहराया है।

बंदर से उत्पन्न नस्ल कहलाने में हम जो शर्म महसूस करते हैं, वह बिलकुल दूर हो जाय, यदि हम अपने आरंभ का ध्यान करें। वह शुक्र या नर-बीज क्या होता है, जिससे हम बनते हैं? और फिर नौ मास में उसके अंदर कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं! खयाल किया जाता है कि नौ मास के इस समय के अंदर उस नर बीज को उन सभी अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है, जिनसे एक जीवन-कोश को मनुष्य के स्तर तक पहुँचने में गुजरना पड़ता है। गर्भ-विज्ञान के अध्ययन से मालूम होता है कि मनुष्य, सूअर, कुत्ते और खरगोश के बच्चों की उन्नति माता के पेट में बहुत समय तक एक ही ढंग पर होती है; बल्कि कई मास तक उनका रूप एक-दूसरे जैसा होता है। इसके पश्चात् भेद शुरू होता है। सृष्टि के विकास का सिद्धांत

हमे यह सिखलाता है कि मनुष्य कोई खासतौर पर पैदा की हुई अलग हस्ती नहीं है, बल्कि वह ब्रह्माड का वैसा ही एक टुकड़ा है, जैसाकि एक परमाणु ब्रह्माड के साथ सच्चा भ्रातृ-भाव इसी शिक्षा से उत्पन्न हो सकता है।

ज्ञान कहाँ होता है?

एक बड़ा सवाल है—अहं ('मैं' का भाव) का ज्ञान किसको होता है? क्या ज्ञान मस्तिष्क में होता है, जो स्वयं मांस का एक लोथड़ा है? मानव शरीर के अंदर हर जगह दो प्रकार की रगें मौजूद हैं। बाहर के संस्कारों को बाहर से अंदर ले जानेवाली रगें संवेदी और अंदर से बाहर आदेश लानेवाली प्रेरक रगें कहलाती हैं। प्रारंभिक अवस्था में ये रगें विद्यमान नहीं होती हैं। तब समस्त शरीर ही बाह्य संस्कारों से प्रभावित होता है। धीरे-धीरे शरीर की त्वचा का विशेष भाग इस भाग में लग जाता है। बहुत सी योनियाँ गुजर जाने पर मेरुदंड या रीढ़ की नस पैदा हो जाती है, जिससे निकली हुई असंख्य रगें त्वचा के हर भाग में पाई जाती हैं। इसके पश्चात् उन्नति करते हुए रीढ़ के एक सिरे पर मस्तिष्क बनना शुरू हो जाता है, जो पशुओं में क्रमशः बढ़ते-बढ़ते सभ्य मनुष्य के अंदर बड़ी मिकदार का हो जाता है। अब हर एक चीज, जो किसी रग पर प्रभाव करती है, संस्कार के रूप में रीढ़ या मस्तिष्क में जमा हो जाती है। जब एक ही संस्कार दूसरी बार होता है तब उससे उसके पहले संस्कार का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ—आँख के सामने एक चित्र एक बार आता है। दूसरी बार आँखों के सामने उसी चित्र के आने से ज्ञान उत्पन्न होता है कि यह चित्र पहले देखा जा चुका है।

इन अनुभूतियों या संस्कारों के एकत्र होने से इनके लिए इच्छा या घृणा का भाव बढ़ता है। इनसे हमारे विचार बनते हैं। इनके सुखदायक या कष्टप्रद होने से इनके पक्ष या विपक्ष में राय बनने या निश्चय की शक्ति उत्पन्न होती है। यही कारण है कि हमको बाह्य संस्कारों का ज्ञान है, परंतु शरीर के आंतरिक अंगों के काम करने का खास पता हमें कुछ नहीं। भगवद्गीता के अध्याय तेरह के श्लोक ५[१] और ६[२] में कहा गया है, 'ये विकार—परिवर्तन—क्षेत्र, अर्थात् शरीर में उत्पन्न होते हैं।' यह सत्य का एक पहलू है। वास्तविक सवाल जहाँ का तहाँ ही रह गया—क्या ज्ञान

---

१ महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

२ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

मस्तिष्क में होता है, जो स्वयं मांस का एक लोथड़ा है?

जड़ प्रकृति और ज्ञान

वर्तमान विज्ञान तो इस बात को ही पर्याप्त समझता है कि माद्दा, प्रकृति उन्नति करता है और ये सब परिवर्तन मादा के अंदर ही उत्पन्न होते हैं; परतु आर्यशास्त्र इसके मुकाबले यह मानते हैं कि ज्ञान मस्तिष्क में नहीं हो सकता। जाननेवाले को अपने स्वरूप का ज्ञान होना असंभव है। वैसे ही जैसे आँख अपने आपको देख नहीं सकती। यह पुरुष है, जो चैतन्य रूप में बैठकर प्रकृति के अंदर सभी परिवर्तन उत्पन्न करता और उनका तमाशा देखता है। भगवद्गीता के अध्याय तेरह के श्लोक २१[१] में कहा गया है, 'यह पुरुष है जो प्रकृति के इन गुणों का निरीक्षण करता है। पुरुष का इन गुणों में बँध जाना ही उसके जन्म-मरण का कारण होता है।' विकास-क्रम के अंदर यदि प्रकृति के साथ पुरुष को काम करता हुआ माना जाय तो यह क्रम एक प्रकार का आत्मिक विकास हो जाता है, जिसमें प्रकृति विभिन्न रूप धारण करती है। ये सब आत्मा की उन्नति की विभिन्न सीढ़ियाँ होती हैं, जिनके द्वारा मनुष्य जीवन की बहुत ही निचली अवस्था से शुरू होकर ऊँची अवस्था तक जा पहुँचता है। शंकराचार्य यह मानते हैं कि जिस वस्तु के अहंकार, मैं का होना पाया जाता है, वह प्रकृति के अंदर एक सर्वव्यापक शक्ति अर्थात् पुरुष की व्यक्तिगत चेतनता है। यही चेतनता प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओं में बदलती हुई अपने विशेष उद्देश्य को पूर्ण कर रही है। यह उद्देश्य वही है, जो पानी की उस बूँद का है, जो चाहे बादलों द्वारा और चाहे भूमि के अंदर से होकर समुद्र तक पहुँचने के प्रयत्न में लगी होती है। इसे 'आवागमन' कहा गया है।

आत्मा का आवागमन

रेखागणित में बताया गया है कि बिंदु और रेखा काल्पनिक बातें हैं। वे कुछ चीज नहीं हैं; परंतु उनका ऐसा अस्तित्व है कि उस पर समस्त गणित अवलंबित है। अफलातून[२] कहता है कि यह केवल विचार है, जो शरीर को छोड़कर दूसरे में जाता है। शॉपनहावर[३] का मत है कि केवल वासना शरीर बदलती है। बौद्ध मत इसे कर्म

---

१ पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

२ प्लेटो। दे. डब्ल्यू. टी. स्टेस, 'ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी', पृ. २११-१४।

३ ए. शॉपनहावर। दे. डब्ल्यू.टी. जोन्स, 'ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी', पृ. ८९१।

कहता है, जो अपने इर्द गिर्द इद्रियो का सूक्ष्म शरीर एकत्र कर लेता है . यह सूक्ष्म शरीर एक से दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है। बौद्धों के विचार में कर्म का अंत ही निर्वाण या मुक्ति है। बौद्ध मतवाले आवागमन का बड़ा दृष्टांत बगूला का देते हैं। हवा के अंदर गति एक विशेष रूप धारण करके अपने इर्द-गिर्द मिट्टी के कण जमा कर लेती है। इससे उसका विशेष आकार बन जाता है। जब यह बगूला एक जगह खत्म हो जाता है, तब वही गति दूसरे स्थान में जाकर नया शरीर धारण करती है। आजकल के आविष्कारों में बेतार का तार का उदाहरण इस सिद्धांत को स्पष्ट करता है। हजारों मीलों के अंतर पर दो स्थलों पर इसके उपकरण रखे रहते हैं। आवाज एक जगह की जाती है, परंतु ईथर के द्वारा उसी क्षण वह दूसरे स्थान मे जा सुनाई देती है। इसी प्रकार जब विशेष प्रकार के गुण एक स्थान को छोड़ते हैं, तब उसी समय अपने योग्य दूसरे उपकरण या शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। मौलाना रूम ने कहा है, 'हमचो सब्जा बारहा रोयदा अम' (वनस्पतियों के समान मैं कई बार उत्पन्न हुआ हूँ)। शम्सुल् तबरेज़ कहता है—

चंदीं हजारॉंसाल शुद कालिबम रा साखतंद,
ईं कालिबे जुजवी मबीं मन आशिके देरीना अम।
बानूह दरकश्ती बुदम बायूसुफ अंदर कैद चाह,
अंदर दम ईसा बुदम मन आशिके देरीना अम।
आदम न बूद मन बुदम आलम न बूद व मन बुदम,
ईं दम न बूद व मन बुदम मन आशिके देरीना अम।
शाहे हकीकत बूदा अम पीरे तरीकत बूदा अम,
शहरे शरीअत बूदा अम मन आशिके देरीना अम।

(—कई हजार साल हुए, उन्होंने अर्थात् प्रकृति ने मेरे शरीर को बनाया। मेरा पृथक् हुआ शरीर मत देखो। मैं प्राचीन काल का आशिक, प्रेमी हूँ। नूह के साथ मैं उसकी नाव में था। मैं यूसुफ के साथ कुएँ में कैद था। मैं ईसा के दम के अंदर विद्यमान था। मैं बहुत पुराना प्रेमी हूँ। जब आदम भी उत्पन्न न हुआ था तब मैं मौजूद था। जब यह संसार नहीं था तब भी मैं मौजूद था। जब यह दम न था तब भी मैं मौजूद था। मैं बहुत पुराना प्रेमी हूँ। मैं हकीकत, ज्ञान का बादशाह रहा हूँ, तरीकत का पीर और शरअ का शहर भी। मैं तो पुराना प्रेमी हूँ।)

आवागमन और भगवद्गीता

भगवद्गीता के अध्याय चौदह के श्लोक ५[१] में कहा गया है, 'प्रकृति के गुण—सत्त्व, रज और तम जीव और शरीर के साथ बाँध देते हैं।' अध्याय पंद्रह के श्लोक ७[२], ८[३] और १०[४] में बताया गया है, 'जीव-लोक में मेरा ही अंश जीव के अलग रूप में चारों ओर इंद्रियाँ एकत्र करके प्रकृति के अंदर हरकत करता है; और जब यह शरीर छोड़ता है तब उनको साथ लेकर इस प्रकार चला जाता है जिस प्रकार हवा फूलों में से सुगंध लेकर चली जाती है। अज्ञानी लोग इनके आने-जाने या प्रकृति के गुणों में फँसने को नहीं देख सकते; यह तो केवल ज्ञानियों को नजर आता है।' अध्याय दो के श्लोक १३[५] में बताया गया है, 'जीव के इस शरीर में बचपन, जवानी और बुढ़ापा आते हैं। मृत्यु के बाद उसे नया शरीर मिल जाता है।' आगे चलकर श्लोक २२[६] में कहा गया है, 'कपड़ों के फट जाने पर मनुष्य उन्हें उतार देता है। वैसे ही जीव एक शरीर को छोड़ दूसरा धारण कर लेता है।' अध्याय छह के श्लोक ४१[७], ४२[८] और ४३[९]; अध्याय सात का श्लोक १९[१०] और अध्याय

---

१ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥

२ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

३ शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

४ उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

५ देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

६ वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

७ प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

८ अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

९ तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

१० बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

आठ का श्लोक २५[1] आदि भी आवागमन का वर्णन करते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है, पुरुष प्रकृति में क्यों आ फँसता है? बात यह है कि प्रकृति और पुरुष—दोनों कार्य-कारण की तरह लाज़िम और मलज़ूम हैं; ये एक-दूसरे से अलग नहीं रह सकते। भगवद्गीता में इन दोनों को ब्रह्म के स्वभाव के दो पहलू—परा और अपरा—कहा गया है। प्रलय के समय प्रकृति तम अवस्था में होती है। ब्रह्मांड की उत्पत्ति के समय इसकी अवस्था रज की हो जाती है। सत्त्व की अवस्था में पुरुष ज्ञान को पहुँचकर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है।

श्रद्धा और मनुष्य

भगवद्गीता के अध्याय आठ के श्लोक ५[2], ६[3] और ७[4] में कहा गया है, 'अंत समय, मरते वक्त, जिसका जो खयाल होता है वह वैसा ही शरीर ग्रहण करता है। इसलिए अर्जुन! तू हर समय मेरा ध्यान रख, ताकि अंत में मेरा ध्यान रहने से तू मेरे पास आए।' प्रत्येक मनुष्य प्रतिक्षण अपने समस्त पिछले जीवन का फल होता है। ज्यों-ज्यों उसके ऊपर और संस्कार पड़ते जाते हैं त्यों-त्यों वह बदलता जाता है। इन संस्कारों के संग्रह का नाम ही चरित्र है। इस चरित्र से वह श्रद्धा निमित्त के रूप में उत्पन्न होती है, जो मनुष्य से अन्य कर्म करवाकर अपने इर्द-गिर्द संस्कार एकत्र करती है। भगवद्गीता के अध्याय सत्रह के श्लोक ३[5] में कहा गया है, 'मनुष्य वही है जो उसकी श्रद्धा है।' कार्य-कारण का यह क्रम मनुष्य के अंदर भी वैसा ही चलता है जैसाकि ब्रह्मांड में।

हमारे संस्कारों और कर्मों पर हमारे भोजन का भी बड़ा प्रभाव होता है।

---

१ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

२ अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

३ य यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

४. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशम्॥

५ सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

अध्याय सत्रह के श्लोक ८[१], ९[२] और १०[३] विभिन्न प्रकार के भोजन का असर वर्णन करते हैं। उपनिषद् में भी कहा गया है, 'आहार शुद्ध होने से मन निर्मल होता है।' पितामह की कथा से इसका बड़ा प्रमाण मिलता है। बाणों की शय्या पर लेटे हुए वे उपदेश दे रहे थे, 'जिस सभा में अन्याय हो, उससे धर्मात्मा को उठ जाना चाहिए।' इस पर प्रश्न किया गया, 'द्रौपदी के अपमान के समय आप उस सभा में क्यों बैठे रहे?' इसके उत्तर में उन्होंने स्पष्टतया स्वीकार किया, 'पाप के अन्न ने उस समय मेरी आत्मा को मलिन कर रखा था।'

मनुष्य में परिवर्तन

कुछ लोग भगवद्गीता[४] पर यों हँसी उड़ाते हैं, 'आदमी सारी उम्र पाप करता रहे और अंत समय में पहुँचकर परमात्मा का ध्यान कर ले। यह तो मुक्ति का बड़ा आसान तरीका है।' यह बात बेसमझी की है; पर संभव नहीं कि जिस मनुष्य का मन सारी उम्र विशेष विचारों में फँसा रहा हो, वह अंत काल में पहुँचकर अचानक परमात्मा की ओर चला जाय। इसके विपरीत, उस समय तो बार-बार वही बातें दुःख के साथ मन में आती हैं, जिनमें दिल सदा लगा रहा हो। जिन लोगो ने किसी मनुष्य को मरते देखा है उन्होंने यह अनुभव किया होगा कि किस प्रकार प्राण-त्याग करते समय आदमी उन्हीं बातों का ध्यान करता और मुख से उसी प्रकार के शब्द या वाक्य बड़बड़ाता है, जो उसके मन में सदा रहे थे।

मनुष्यों के अंदर, उनके जीते-जी भी, अचानक परिवर्तनों के जो उदाहरण मिलते हैं, वे केवल प्रकट रूप में वैसे होते हैं, वास्तव में नहीं। यद्यपि महर्षि वाल्मीकि पहले डाकू थे, परंतु उस समय भी वह अपने माता-पिता आदि संबंधियो को सुख देने के लिए डाके डाला करते थे। उनका प्रयोजन उस समय भी एक प्रकार से दूसरों का भला करना था, जो ऋषि बन जाने पर उनके अंदर दूसरे रूप में प्रकट हुआ। प्रकट कार्यों से ही मनुष्य की वास्तविकता नहीं मालूम होती। वह तो उसकी श्रद्धा में पाई जाती है।

---

१ आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

२ कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

३ यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

४ अध्याय आठ, श्लोक ५।

शुरू-शुरू में औरंगज़ेब बहुत शराब पीता था और विलासप्रिय भी था। किंतु शासक की गद्दी मिलते ही वह बड़ा परहेजदार बन गया। वास्तव में बात यह थी कि ज़वानी चढ़ते ही उसके अंदर यह इच्छा प्रबल हुई कि उसे बादशाह की गद्दी मिल जाय। अपने पिता की मज़लिसों में सर्वप्रिय बनने के लिए वह सभा के नियमों पर चलता था। बाद में उसका उद्देश्य उस मजहबी दल को खुश करना और मज़बूत बनाना था, जिसने उसे गद्दी प्राप्त करने में सहायता दी थी। इसी प्रकार बंदा, लक्ष्मनदास, बैरागी साधु से एक बड़े सेनानायक बन गए। यही नहीं, उन्होंने पंजाब का इतिहास बिलकुल अलग ही बना दिया होता, यदि लाहौर के पास बागवानपुरा की लड़ाई में पाँच हजार तत्खालसा सिख उनका साथ छोड़कर लाहौर के मुसलमान शासक के साथ न जा मिले होते। इस प्रसिद्ध राष्ट्र-नायक की आंतरिक अवस्था को यदि देखा जाय तो मालूम होगा कि बाद में भी उसका दिल वही था, जिसने यौवन में हिरनी का शिकार करके उसका पेट चीरा था। हिरनी के पेट से जीवित बच्चा निकलने पर उन्हें इतना दुःख हुआ कि उन्हें संसार से ही विरक्ति हो गई। फिर जब गुरु गोविंद सिंह ने इन्हीं बैरागी का ध्यान देश की करुणाजनक अवस्था की ओर दिलाया तब वह सेनानायक बन गए।

□

सातवाँ परिच्छेद

मानसिक विकास

ज्ञान का विकास

ब्रह्मांड में ज्यों-ज्यों विभिन्न प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते जाते हैं त्यों-त्यों उनके अंदर धीरे-धीरे दिमाग की उन्नति होती जाती है। इससे ज्ञान का आरंभ होता है और मनुष्य जाति के अंदर मानसिक विकास का चक्र चलता है।

यह विकास क्योंकर शुरू होता है और किन कारणों से उन्नति करता है, इस विषय में कई मत हैं। इनमें से एक तो बकल का आर्थिक मत है, जिसका वर्णन उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन' अर्थात् 'सभ्यता का इतिहास' में किया है। इसके अनुसार, ज्ञान के आरंभ के तीन बड़े कारण हैं—भोजन का आधिक्य, जलवायु और प्राकृतिक दृश्य। जिन देशों में सभ्यता शुरू हुई उनकी भूमि किसी-न-किसी बड़ी नदी के कारण भोज्य पदार्थ बहुत ज्यादा उत्पन्न करती थी। वहाँ की जलवायु गरम होने से मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। वहाँ लोगों को बड़े मकानों की जरूरत भी नहीं थी। गंगा, नील और दजला-फरात इस मत के बड़े उदाहरण हैं। इन प्रदेशों में गेहूँ, चावल और खजूर अधिक पैदा होने से मनुष्य का पेट आसानी से भर सकता था। इस प्रकार भोजन का झझट न रहने से बहुतेरे लोगों को सोच-विचार के लिए काफी समय मिलता था। बकल प्राकृतिक दृश्यों को इसलिए आवश्यक समझता है कि ये मनुष्य में सोचने की ओर झुकाव उत्पन्न करते हैं; परंतु ये इतने अधिक न हों कि मनुष्य के दिमाग पर प्रभुत्व जमाकर उसे सोचने से ही रोक दें। इन प्रदेशों में परिस्थिति ऐसी अनुकूल थी कि वहाँ एक ऐसी श्रेणी पैदा हो गई, जिसके पास काम करनेवालों की संख्या

बहुत बढ गई निश्चिंतता होने से उसे मनुष्य की वर्तमान उन्नति की नींव डालने का अवसर मिला।

यह भी खयाल रखना चाहिए कि विभिन्न देशों की भूमि और जलवायु मनुष्य के शरीर, रंग, मस्तिष्क और भाषा पर बड़ा विचित्र प्रभाव डालती हैं। इंग्लैंड, जापान, अफ्रीका आदि के रहनेवाले लोगों के रंग-रूप आदि में जो फर्क है, वह प्रायः उनके इर्द-गिर्द की प्रकृति के प्रभाव से है। इसी प्रकार प्राचीन यूनान देश में नगरों के प्रजातंत्रों की नींव इसलिए पड़ी कि यूनान में इतनी छोटी-छोटी अलंघ्य पहाड़ियाँ हैं कि तब सभी नगरों का एक शासन के अधीन होना सभव न था।

ज्ञान का आरंभ और पशु जीवन

हरबर्ट स्पेंसर विकास के सिद्धांत के अनुसार ज्ञान का आरंभ पशु जीवन मे ही ढूँढ़ता है। पशुओं में दो बड़ी आवश्यकताएँ या इच्छाएँ पाई जाती हैं—प्रथम, पेट भरने की और दूसरी, समय पर भोग की। दूसरी इच्छा के साथ-साथ संतान-प्रेम और वंश-वृद्धि का भाव भी उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में, स्वयं जीवित रहना और नस्ल को कायम रखना—ये पशु जीवन के दो बड़े मौलिक सिद्धांत हैं। जानवर दो प्रकार के होते हैं। एक वे, जो अपनी खुराक आसानी से हासिल कर सकते है, उदाहरणार्थ—हिरन, भेड़ आदि और दूसरे वे शिकारी जानवर हैं, जिनको अलग-अलग खुराक ढूँढ़ने में आसानी होती है। इस प्रकार के जानवर शेर, कुत्ता आदि हैं। कुत्ता यहाँ तक तो समझदार है कि अपनी चूसी हुई हड्डी को मिट्टी से ढाँपकर दूसरे दिन के लिए रख देता है, ताकि कोई दूसरा कुत्ता उसे खा न ले; परंतु इसके साथ ही वह अपनी जाति का इतना वैरी है कि भारत में इसका नाम गाली के बराबर हो गया। इसके बारे में कई कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। एक कुत्ता अपने गाँव में साथियों के बरताव से तंग आ गया। उसने किसी दूसरे गाँव में जाने का निश्चय किया। परंतु जहाँ कहीं जाता, वहाँ के कुत्ते गाँव से मील भर बाहर ही उसके पीछे पड़ जाते और वापस भगा देते। इस प्रकार भागते-भागते वह फिर अपने ही गाँव में आ पहुँचा। वहाँ दूसरे कुत्तों ने उससे पूछा—फिर क्यों आ गए? उसने उत्तर दिया—आप भाइयो की कृपा से। मैं जहाँ कहीं जाता था, वहाँ के कुत्ते मुझे पहले से ही निकालने के लिए तैयार रहते थे।

पहली किस्म के जानवरों को शिकारी जानवरों से बचने के वास्ते भी इकट्ठा रहना लाभकारी होता है। उनमें बहुतेरे ऐसे हैं, जिनको बच्चों का सम्मिलित

प्रेम सदा जोडे के रूप मे रहना सिखला देता है सारस का उदाहरण बडा विचित्र है। नर और मादा बच्चों की जोड़ी नियत करते समय बहुत से सारस एकत्र होकर मानवी विवाह के समान आनंद मनाते हैं।

इकट्ठे रहने से पशुओं में भी एक-दूसरे से सहानुभूति और सम्मिलित रक्षा का विचार उत्पन्न हो जाता है। दो घोड़े इकट्ठे रहने से आपस में एक-दूसरे पर प्राण तक न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाते हैं। हाथियों के उदाहरण से यह बात खूब स्पष्ट हो जाती है। जंगल में चरते वक्त उनका नेता सबसे आगे होता है और बच्चे बीच में। शत्रु से हुए मुकाबले में कायरता दिखलाने पर नेता को हटा दिया जाता है।

भोजन जुटाने के लिए इकट्ठा रहना—यह बात चींटी और मधुमक्खी के उदाहरणों से अच्छी तरह प्रकट होती है। इन दोनों के अंदर विभिन्न प्रकार से काम करने के वास्ते हिंदुओं के वर्णों के समान विभाजन पाया जाता है। कुछ का काम खुराक जमा करना होता है, कुछ का संतान पैदा करना, कुछ शत्रु से लड़ने का काम करती हैं और शेष सेवा का कार्य अपने ऊपर लेती हैं।

वहशी आदमी और उन्नति

वहशी आदमी भी इन्हीं सिद्धांतों के अनुसार चलते हैं। इकट्ठे रहने से उनके अंदर सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। भोजन सामग्री की खोज में ज्यों-ज्यों औजारों की जरूरत पड़ती है त्यों-त्यों ये औजार मिल्कियत या यादगार का काम देते हैं। इस प्रकार संतति-प्रेम के साथ संपत्ति-प्रेम का बीज बोया जाता है। भोजन प्राप्त करने के उद्देश्य से वहशी कबीलों में परस्पर लड़ाइयाँ होती हैं। इनमें जो मनुष्य अच्छी तरह मुकाबला करके कबीले को बचाते हैं, वे अपने जीवन-काल में बुजुर्ग और मृत्यु के पश्चात् जनसाधारण की दृष्टि में देवता बन जाते हैं। इन लोगों के कारनामों को आनेवाली नस्ल में जारी रखना कबीले के लिए इस कारण आवश्यक होता है कि वीरों के लिए प्रशंसा और कायरों के प्रति घृणा उत्पन्न हो। ऐसे बुजुर्गों के मृत शरीरों को कायम रखने के लिए कब्रें बनाई जाती हैं। ये कब्रें पूजना और इनके साथ मकबरे बनाना मज़हब की एक नींव है। इसके गुणों को गाने और लोगों को सुनानेवाले मज़ावर मज़हबी नेता बन जाते हैं।

हरबर्ट स्पेंसर ने कब्रपरस्त मज़हबों और उनके रीति-रिवाजों का अध्ययन करके ये निष्कर्ष निकाले हैं। मिस्री, चाल्डियावासी और यहूदी रूह या आत्मा को डबल माना करते थे। यह डबल या जोड़ा रूह उन्हें स्वप्न आदि में दिखलाई दिया

करता था इस जोडे के लिए कब्र बनाना वे आवश्यक समझते थे परंतु आर्य जाति के लिए इस निष्कर्ष का ठीक कहना मुश्किल है। आर्यों में कब्र पूजा का निशान भी न था। वे मुरदे को जलाना ही धर्म समझते थे, क्योंकि वे जानते थे कि मुरदे के अदर से आत्मा कहीं और चली जाती है। प्राचीन यूनान आदि देशों में प्राकृतिक शक्तियो को सूक्ष्म आत्माएँ समझकर उनकी पूजा करने का रिवाज था। इसका भी कब्रपरस्ती से कोई संबंध नहीं मालूम देता[१]।

अवतार और पैगंबर

मनुष्य की प्रारंभिक अवस्था में असाधारण दिमाग रखनेवाले ऐसे कई व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने संसार का पथ-प्रदर्शन किया। प्रायः देखा जाता है कि यदि बच्चे को कुछ न सिखलाया जाय तो वह वहशी-सा बन जाता है, यहाँ तक कि भाषा न सिखलाने से वह कुछ बोल भी नहीं सकता। इसी प्रकार जो दल या कबीले वहशी हालत में चले आ रहे हैं, वे बहुत काल से इसी अवस्था में हैं। उन्होंने कोई उन्नति नहीं की। सिखलाए जाने पर उनमें विचित्र परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है।

बकल भी यह मानता है कि संसार में असाधारण बुद्धि रखनेवाले मानव पैदा होते हैं, जो मनुष्यों के लिए दीपक का काम देते हैं। उन्हें वह प्रकृति के ऊपर अतीतात्मक शक्तिवाला कहता है। वह उनके होने का कोई कारण नहीं बतला सकता। मत्सीनी (मेजिनी) कहता है कि संसार के पथ-प्रदर्शन के लिए ईश्वर आवश्यकतानुसार अपने आपको मनुष्यों में प्रकट करता है। यह विचार भगवद्गीता के चौथे अध्याय के श्लोक ७ और ८[२] में यों पाया जाता है—'धर्म की रक्षा के लिए जब-जब जरूरत पड़ती है तब-तब मैं जन्म लेता हूँ।' इसलाम, ईसाई और यहूदी—

---

१ इस प्रकार के तर्क के आधार पर उपरिलिखित निष्कर्ष निकालना तर्कशास्त्र का निगमनात्मक (Deductive) तरीका कहा जाता है। यूरोप में यह तरीका सोलहवीं शताब्दी के बेकन (Bacon) ने जारी किया। इसका नियम यह है कि विज्ञान की सहायता से जो बातें देखी गई हों, उनको एकत्र करके उनसे विशेष निष्कर्ष निकाले जाते हैं। बेकन से पूर्व पुरानी दुनिया के तर्क का तरीका आगमनात्मक (Inductive) था। इसके अनुसार, साधारण निरीक्षण में से काल्पनिक शक्ति के द्वारा नियम स्थिर करके उनसे सामयिक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। वर्तमान तर्कशास्त्री निगमनात्मक तरीके को कितना ही अच्छा कहे, इस बात से इनकार नहीं हो सकता कि पुराने तरीके के न होने पर किसी बड़े दर्शन की नींव न पड़ सकती थी।

२ यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे॥

तीनों सेमेटिक मज़हब इसे मज़हबी सिद्धांत बनाकर इस पर अपनी नींव रखते हैं विशेष व्यक्तियों को इन्होंने खुदा के पैगंबरों का पद दिया, जिनकी ओर खुदा अपने फरिश्ते संदेश-वाहक के रूप में भेजता था और कई बार उनसे बातचीत भी किया करता था। खुदा के ये सब आदेश और हिदायतें इन मज़हबों की पवित्र पुस्तकों मे पाई जाती हैं।

आर्यशास्त्र ब्रह्मांड के सकल ज्ञान को 'वेद' कहते हैं। वेद को भगवद्गीता में 'ब्रह्म' कहा गया है। यह ज्ञान अटल और अनादि है। इस ज्ञान को मंत्रों के रूप में देखने और स्पष्ट करनेवाले 'ऋषि' कहलाते हैं। इस बात पर थोड़ा मतभेद पाया जाता है कि यह समस्त ज्ञान मानव-सृष्टि के आरंभ में ही कुछ ऋषियों के द्वारा प्रकट हुआ या विभिन्न समयों में। इस विषय में एक मत तो यह है कि सब वेद आरंभ में ही विशेष मंत्रों के रूप में प्रकट हो गए और इनके अर्थ समझनेवाले ऋषि बाद में भी होते रहे। (इसी कारण उन ऋषियों के नाम पर वे मंत्र पाए जाते हैं।) दूसरा मत यह है कि वेदमंत्र भी विभिन्न समयों पर उन ऋषियों पर प्रकट होते रहे जिनके नाम मंत्रों से मिलते हैं; परंतु एक बात पर सभी सहमत हैं—वे स्वतः प्रमाण हैं और उनकी निंदा करनेवाला नास्तिक है।

यदि प्राचीन आर्य-साहित्य के इतिहास पर विचार किया जाय तो मालूम होता है कि आर्य जाति के ज्ञान का आरंभ तथा उन्नति आर्यों के विचारों की उड़ान और प्रकृति के साथ संपर्क पर निर्भर है। आर्य-साहित्य के चार काल हैं। वैदिक काल में ऋषि प्रकृति के दृश्य देखकर वैसे ही प्रेम तथा आश्चर्य प्रकट करते हैं जैसे जन्म लेने के बाद बच्चा। यह बच्चा संसार की हर वस्तु, यहाँ तक कि सूर्य और चाँद को भी, अपने हाथों में लेने की इच्छा और प्रयत्न करता है।

दूसरा काल उपनिषदों का है, जबकि बुद्धि शांत होकर ध्यान में लगी हुई मालूम देती है। ब्रह्मांड के अंतस्तल में जो रहस्य काम करते हैं, उनकी खोज का उल्लेख उपनिषदों में पाया जाता है। नचिकेता का प्रश्न[१] कितना सुंदर है—मृत्यु के बाद आत्मा किधर जाती है? मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से पूछती है—आत्मा क्या है?[२]

तीसरे काल में तर्क प्रधान है। इसमें दर्शन के कई संप्रदाय पैदा हो गए। ये सब दुःखदर्शी हैं और इस दुःख को दूर करने के लिए अपने-अपने तरीके से उपाय ढूँढ़ते हैं। बौद्ध मत इस दर्शन को मज़हब के स्तर पर ले जाता है, 'इच्छा छोड़ दो।

---

१ येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। *(कठोपनिषद्, १/१/२०)*

२ सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां। यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति।

(बृहदारण्यकोपनिषद्, २/४/३)

बस यही निर्वाण है भगवद्गीता बताती हे कि ज्ञानी की दृष्टि मे सुख और दु ख बराबर हैं . अध्याय दो का श्लोक ५६[१] और अध्याय चौदह के श्लोक २४[२] और २५[३] बताते हैं, 'संसार में दुःख है, परंतु उससे डरो मत। अपने कर्तव्य का पालन करते जाओगे तो दुःख ही सुख मालूम होगा।' बौद्ध मत दुःख से घबराकर उससे मुक्ति ढूँढ़ता है। भगवद्गीता दुःख के ऊपर विजय प्राप्त कर उसे सुख बना देती है।

चौथा पौराणिक काल है। इसमें पुराणों का रिवाज़ पाया जाता है। कभी-कभी लोग प्राचीन भाषा के शब्दों के प्रयोग न समझकर उनके अर्थ अपने हालात के अनुसार मानने लगते हैं।

भाषा का आरंभ

ज्ञान के आरंभ के साथ मिलता हुआ प्रश्न भाषा का आरंभ है। इस विषय पर विचार करना आवश्यक है। स्वामी दयानंद[४] तो वेद-ज्ञान के साथ शब्द को भी अनादि मानते हैं। शब्द ज्ञान का पहनावा है। ऋषियों के मन में ज्ञान का प्रकाश इन्हीं शब्दों के द्वारा हुआ। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक वेद-ज्ञान को अनादि मानते हैं; परतु वे यह भी कहते हैं कि हर हिमानी युग के अंत में इस पृथ्वी पर एक तूफान आता है, जो बीस-पच्चीस हजार वर्ष के बाद एक प्रलय सी होती है। तब यह ज्ञान विचारों के रूप में याद रह जाता है। फिर सृष्टि फैलने पर ऋषिगण इसका वर्णन अपने शब्दों में करते हैं। 'मनुस्मृति' में इस तूफान को 'मनु का तूफान' कहा गया है। संभवतः इसी को बाइबिल 'नूह का तूफान' बताती है। (शब्द, मनु और नूह में बहुत साम्य पाया जाता है।)

श्री अरविंद घोष ने भाषा के आरंभ को विकास के सिद्धांत के अनुसार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके परिणाम इस प्रकार हैं—आरंभ में मनुष्य पशुओं के समान कुछ आवाजें निकालते थे। (इन आवाजों को अरविंद बाबू ने बीज-शब्द कहा है।) वे आवाजें विशेष गतियों के संबंध से विशेष अर्थ प्रकट करती थीं। एक

---

१ दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

२ समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

३ मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

४ देखिए 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में 'वेदनित्यत्वविषय'।

काल के बाद जब इन आवाजो के कई विभिन्न अर्थ समझे जाने लगे तब ये धातु बन गईं। ज्यो-ज्यो इन धातुओ के प्रयोग और अर्थ बढ़ते गए त्यो-त्यो इनसे कई शब्द बनने लगे। पहले-पहल ये समष्टिगत अर्थों में प्रयुक्त होते थे, जिनसे एक शब्द अवसर के अनुसार कई अर्थ देता था। इन शब्दों को तरल, आसानी से बदलनेवाले, कहा गया है। (वेदों के बहुत से शब्द इस प्रकार के हैं।) बहुत समय गुजरने पर जब इन शब्दों की संख्या बहुत बढ़ी तब एक-एक विशेष अर्थ देने लगा। इससे उसका अर्थ सीमाबद्ध हो गया। यही कारण है कि पुरानी संस्कृत में श्लेष का प्रयोग बहुत पाया जाता है और एक ही शब्द कई अर्थों में इस्तेमाल होता है। यह अन्वेषण भाषा-विज्ञान को एक नए रूप में प्रकट करता है। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर मालूम होता है कि न केवल आर्य नस्ल की शाखाओं की भाषाएँ, बल्कि अन्य भाषाएँ भी वैदिक भाषा से विशेष संबंध रखती हैं।

अक्षरों का आरंभ

अक्षरों के आविष्कार में अन्य जातियों का हाथ दिखलाई देता है। लिखने की प्राचीनतम कला चीनियों की मालूम होती है। चीनी भाषा में हर एक पूर्ण वाक्य के लिए विशेष चिह्न या संकेत है। जो मनुष्य इस भाषा का पंडित होना चाहता है, उसे लगभग पैंसठ हजार चिह्न याद करने पड़ते हैं। साधारण शिक्षा के लिए दो-तीन हजार चिह्नों का जानना आवश्यक होता है। चीनियों ने सातवीं शताब्दी से पूर्व ही छापाखाना, मुद्रण यंत्र और समाचार-पत्र जारी किए थे। यूरोप के ईसाई पादरियों ने मुद्रण कला चीन से ले जाकर यूरोप में प्रचलित की।

प्राचीन मिस्रवासी जानवरों के चित्र खींचकर लिखा करते थे। एक चित्र अवसर के अनुसार विभिन्न अर्थों के लिए संकेत होता था। इनको चित्र-लिपि कहा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के दरमियान एक लेख मिला, जिस पर लैटिन भाषा के साथ कुछ चित्र विद्यमान थे। लैटिन भाषा से उस लेख की चित्र-लिपि पढ़ने में मदद मिली। उस चित्र-लिपि की सहायता से ईसा से छह-सात हजार वर्ष पूर्व के मिस्र का इतिहास मालूम हो गया है।

चाल्डिया के वासी रेखाओं की सहायता से लिखते थे। इसे क्यूनिफार्म तरीका कहा जाता है। ये लोग ईंटों पर पुस्तकें लिखकर उन्हें आग में पका लेते थे। ऐसी पुस्तकों का एक संग्रहालय नैनवा के महलों के खंडहरों में पाया गया है।

टाइर नाम के स्थान में रहनेवाले फिनीशियन लोग थे, जिन्होंने खास आवाजों के लिए खास निशान नियत कर रखे थे। ये अक्षरों के रूप में थे। थीब्स का

रहनेवाला काडमस नामक एक शख्स ईसा से पंद्रह सौ वर्ष पूर्व इन अक्षरों को यूनान या ग्रीस में ले गया। यूनान से ये रोम पहुचे और वहाँ से इनका रिवाज समस्त यूरोप में हो गया। फिनीशिया और चाल्डिया के अक्षर मिलाकर बेबेलोनिया के अक्षर बनाए गए। बेबेलोनिया के अक्षरों से अरबी लिपि उत्पन्न हुई। पुराने पारसी लोगों ने भी, यद्यपि उनकी भाषा आर्यभाषा की एक शाखा है, अक्षरों की नकल यहाँ से की।

देवनागरी अक्षर अत्यंत वैज्ञानिक ढंग पर बनाए गए हैं। केवल यही अक्षर है, जो उच्चारण-शास्त्र के अनुयायी कहे जा सकते हैं। इसका मतलब यह है कि देवनागरी में जितनी आवाज मुँह से निकलती है उतनी ही लिखी जाती है और जो लिखी जाती है वही बोली जाती है। इनके प्रचलन का ठीक समय नहीं बताया जा सकता। संभव है कि प्राचीन काल में संसार की जातियों के पारस्परिक संपर्क के कारण ये अक्षर पाणिनि या किसी अन्य ऋषि ने बनाए हों।

समानता की एक विचित्र बात यह है कि जहाँ पर यूरोप की भाषाओं में अक्षर 'x' (एक्स), जो दो मिश्रित आवाजों के लिए इस्तेमाल होता है, एक ही है वहाँ देवनागरी में भी मिश्रित आवाज देनेवाला वैसा ही अक्षर 'क्ष' पाया जाता है।

भाषाओं का स्रोत

आर्य नस्ल की शाखाओं की भाषाओं का स्रोत एक भाषा मानने में तो किसी विद्वान् को इनकार नहीं; क्योंकि उनकी पारस्परिक समानताएँ बहुत प्रबल हैं। पारिवारिक प्रयोग में प्रायः समस्त शब्द, दिनों के नाम और दस तक की गिनती के शब्द एक जैसे ही मालूम देते हैं। यूनानी, लैटिन, जर्मन, अंग्रेजी आदि और यहूदी भाषा में भी ईश्वर का नाम एक ही स्रोत, 'दिव्' धातु से निकला हुआ है। 'दिव्' धातु का अर्थ 'चमकना' है।

भाषाओं की एकता का सबसे बड़ा प्रमाण उनके व्याकरणों में पाया जाता है। व्याकरण भाषा के पंजर के समान है। प्रायः सभी बच्चों को व्याकरण याद करने पर बड़ा जोर दिया जाता है; परंतु इसका वास्तविक लाभ बहुत कम लोगों को मालूम है। भाषाओं के व्याकरणों की तुलना करने से स्पष्ट नजर आता है कि वे प्रायः हर बात में एक-दूसरे के समान हैं। यदि भाषाओं में भिन्नता होती तो उनकी बनावट क्योंकर एक सी होती? बर्मी और चीनी जैसी जिन भाषाओं का वास्तविक स्रोत से संबंध नहीं है, उनमें व्याकरण पाया ही नहीं जाता। कुछ लोग हैरान होते हैं कि यदि भाषाओं का स्रोत एक है, तो इतनी विभिन्नताएँ कहाँ से आ गईं? इसका

उत्तर स्पष्ट है थोडी थोड़ी दूरी पर जलवायु आदि के प्रभाव से भाषा मे परिवर्तन का होना एक स्वाभाविक कानून है। अपने आपको उस काल में समझिए, जब न समाचार-पत्र थे, न छापाखाने, और पुस्तक का उपलब्ध होना भी एक कठिन बात थी। अब आगे चलिए उस काल में, जब लिखने की कला का आविष्कार नहीं हुआ था। ऐसी परिस्थिति में इन विभिन्नताओं का होना किसी प्रकार आश्चर्यजनक मालूम नहीं होगा। इससे यह भी पता चलता है कि प्राचीन भारत में ब्राह्मणों का इतना आदर और मान क्यों किया जाता था। ब्राह्मण वे व्यक्ति थे, जिन्हें उस समय के पुस्तकालय मस्तिष्क के अंदर उठाने पड़ते थे, बल्कि ज्ञान का यह कोश दूसरों के सुपुर्द करने के लिए उन्हें योग्य शिष्य ढूँढ़ने पड़ते थे। बड़े आश्चर्य की बात है कि उन्होंने किस प्रकार वेदों, उपवेदों, वेदांगों, उपनिषदों, शास्त्रों आदि को केवल मस्तिष्क और भाषा के द्वारा हजारों वर्षों तक कायम रखा।

भाषा का महत्त्व

एक दृष्टि से भाषा लोहे के उस संदूक के समान है, जिसमें सारे साहित्य के कोश जमा हों। भारत के आर्यों ने अपनी भाषा और धार्मिक रीतियों को पुरानी दुनिया, मिस्र आदि में फैलाया। बौद्ध मत के उत्कर्ष काल में उनका दर्शन बर्मा, चीन आदि देशों में फैला। मुसलिम उत्कर्ष के समय अरबों ने हिंदुस्तान से ज्ञान संबंधी लाभ उठाया। हारूँउल्‌रशीद और उसके बेटे के खिलाफ़त काल में बगदाद के व्यापारी भारत में व्यापार के उद्‌देश्य से आते और यहाँ की पुस्तकों की नकलें भेंट के रूप में अपने देश में ले जाते। दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, बीजगणित आदि विषयों की सैकड़ों पुस्तकें वहाँ पहुँचीं। आयुर्वेद का अनुवाद अरबी भाषा में किया गया। अरब लोगों ने इन सभी विद्याओं को स्पेन में उस समय विश्वविद्यालय स्थापित करके फैलाया, जब शेष समस्त यूरोप अंधकार में था। विचित्र बात यह है कि यूनानी दर्शन भी यूरोप में अरबी भाषा के द्वारा फैला।

भाषा केवल सभ्यता के कोश का संदूक ही नहीं है। यह राष्ट्रीयता की वह बडी पुस्तक है, जिसमें राष्ट्र या जाति का इतिहास लिखा हुआ मिलता है। यह बात संस्कृत के तुलनात्मक अध्ययन से मालूम हुई कि यूरोप की जातियाँ भी आर्य नस्ल से हैं। भारत में जब शक आदि विदेशी लोगों का आना शुरू हुआ, तब उनकी भाषा की मिलावट आदि कारणों से प्राकृत भाषा बन गई। बौद्ध मत के उत्कर्ष काल में इस भाषा का न केवल हिंदुस्तान, बल्कि बर्मा आदि में भी पवित्र भाषा का दरजा हो गया। जब भारत में लोगों के विभिन्न टुकड़े हो गए और प्राकृत, बंगाली, गुजराती,

मराठी आदि भाषाओ मे विभक्त हो गई मुसलिम काल मे इन पर फारसी की छाप उसी प्रकार लगी जिस प्रकार भारत पर मुसलिम राज्य की लगी। आजकल हमारी भाषा अंग्रेजी से प्रभावित हो रही है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि भाषा के बने रहने से राष्ट्रीयता बनी रहती है और उसके विनाश से राष्ट्रीयता विनष्ट हो जाती है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली से प्रभावित होकर आम शिक्षित लोगों का दिमाग इस प्रकार का बन गया है कि वे यह समझ नहीं सकते कि भारत के नवयुवकों को अपनी भाषा छोड़कर अन्य भाषा के द्वारा शिक्षा देना प्रकृति–विरुद्ध बात है। हिसाब लगाकर देखने से पता लगता है कि शिक्षाकाल में हमारे बच्चों का आधे से ज्यादा समय केवल विदेशी भाषा सीखने और समझने में व्यय होता है। अपनी भाषा की रक्षा का एक ही तरीका है—सारी शिक्षा और सरकारी कार्य इसमें हों। तभी हमारी भाषा सजीव बनेगी और उसमें नया साहित्य उत्पन्न होगा। जो लोग अपनी भाषा में पहले उच्च कोटि की पुस्तकें देखना चाहते हैं और बाद में उसे शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते हैं, वे घोड़े के आगे बग्घी जोतकर उसे चलाने की कोशिश करना चाहते हैं।

□

आठवाँ परिच्छेद

सामाजिक विकास

सामाजिक जीवन का कानून

भगवद्गीता के अध्याय अठारह का श्लोक ६१ * कहता है, 'स्वयं भगवान् सबके हृदय में बैठकर संसार चक्र को चला रहे हैं।' इस ब्रह्मांड को हम केवल संयोग का फल समझें या किसी बड़ी शक्ति की तदबीर का खुलना और बंद होना? यह बात हमें साफ दिखाई देती है कि वे समस्त शक्तियाँ, जिनमें राष्ट्रों का इतिहास बनता है, अन्य प्राकृतिक शक्तियों के समान खास कानूनों के अधीन चलती हैं। इन कानूनों का ज्ञान इतिहास के संपूर्ण अध्ययन के लिए आवश्यक है। व्यक्तिगत जीवन और राष्ट्रीय जीवन में बड़ा फर्क यह है कि एक साधारण सी भूल या घटना व्यक्तिगत जीवन में क्रांति उत्पन्न कर सकती है; परंतु राष्ट्रीय जीवन की लहर किसी ऐसी घटना से कम प्रभावित हुआ करती है। एक मनुष्य ट्राम से गिरकर या पाँव के फिसल जाने से ऐसी चोट खाता है कि वह उसके जीवन पर स्थायी प्रभाव उत्पन्न कर देती है। राष्ट्रीय जीवन ऐसी दुर्घटनाओं से प्रायः मुक्त होता है और उसके कानून बगैर तब्दीली के चलते हैं। इन्हीं कानूनों के आधार पर मानवीय इतिहास को विज्ञान का पद मिल जाता है। जिस प्रकार इतिहास से निकाले गए परिणाम राजनीति कहलाते हैं उसी प्रकार ये कानून इतिहास विद्या का दर्शन हैं। इन कानूनों का अध्ययन करके हम मज़हब के वास्तविक तत्त्व तक पहुँच सकते हैं।

---

* ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

जीवन-संचालन और खयाल

किसी भी मनुष्य के जीवन को लेकर उसके चरित्र पर ध्यान करने से विदित होगा कि उसके प्राय: सभी कार्यों के अंतस्तल में एक खास खयाल है, जो उसे चलाता है। साधारण सांसारिक लोग केवल आराम से जीवित रहना चाहते हैं। आराम का जीवन व्यतीत करने के विचार से वे तरह-तरह की मेहनत करते और कष्ट उठाते हैं। समझदार आदमी आराम की इस जिंदगी में कुछ अर्थ नहीं देखता। उन लोगों का उद्देश्य आराम करना होता है; परंतु यह आराम ही उनके सिर पर सब कष्ट लाता है। बहुत सोच-विचार न रखनेवाले मनुष्य केवल दो पाशविक भावों के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं—एक, जीवन स्थिर रखना और दूसरा, नस्ल बढ़ाना। जब एक मजदूर दिन में आठ घंटे मेहनत करके दो रुपए कमाता है, तब अपने जीवन के एक दिन को वह दो रुपए के रूप में परिणत कर लेता है। इससे वह अपने परिवार का पोषण करता है। जरा आगे चलकर देखने से मालूम होता है कि कई अन्य खयाल भी हैं, जो सांसारिक मनुष्यों के जीवन को चलाते हैं। कहीं पर यह विषय का दासत्व है, कहीं पर धन एकत्र करने की इच्छा और कहीं पर प्रसिद्धि का खयाल। कंजूस की जिंदगी में यह खयाल काम करता है कि जिस किसी तरह से हो सके, वह रुपए को सभी जगह से खींचकर उस स्थान पर ला रखे, जिसे वह अपना समझता है। बनियों के बारे में कहावत है—'बनिए की कमाई ब्याह या मकान ने खाई।' अर्थात् वह अपना और दूसरों का पेट काटकर उम्र भर मे जो कुछ जमा करता है, उसे लड़के-लड़की के ब्याह करने या मकान बनवाने में खर्च कर देता है। दूसरे शब्दों में, ब्याह या मकान उसके समस्त जीवन को खा जाता है। एक शख्स को शराब या व्यभिचार की आदत है। वह अपना आराम, इज्जत वगैरह सबकुछ त्यागकर समस्त जीवन को सिर्फ उस आदत का शिकार बना देता है। प्रसिद्धि की इच्छा प्रशंसनीय भाव है; परंतु इसके बदले जीवन तब्दील करनेवालों की संख्या बहुत थोड़ी है।

राष्ट्रीय जीवन और खयाल

जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन के अंतस्तल में खयाल काम करता है उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन को भी वही चलाता है। हर राष्ट्र के इतिहास में किसी एक खयाल का प्रदर्शन और फैलाव दिखलाई देता है। प्राचीन स्पार्टा के लोग शारीरिक सौंदर्य के खयाल पर हद से ज्यादा मुग्ध थे। स्पार्टन माता-पिता को जब कोई बच्चा

शारीरिक दृष्टि से निर्बल मालूम देता तो वे उसे पहाड़ की चोटी से गिराकर मार देते। जापान में देश-प्रेम का भाव है। यही उनका मज़हब और यही उनका आचार है। रूस-जापान युद्ध के समय जापान की कितनी ही कुँआरी लड़कियों ने वेश्यावृत्ति इसलिए ग्रहण कर ली कि इसके द्वारा धन कमाकर वे उसे अपने देश को भेज सकें। अमेरिका में व्यक्तिगत समानता का सिद्धांत वहाँ के सामाजिक जीवन के अंतस्तल मे पाया जाता है। यहाँ तक कि बेटे बाप का और शिष्य गुरु का कुछ मान नहीं करते। वहाँ शासक और शासित, स्त्री और पुरुष का दरजा बराबर है।

यह खयाल चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो, जब किसी जाति में अकेला ही जोर पकड़ जाता है तब अन्य विचारों के दब जाने से उस जाति के पतन का कारण होता है। राजपूतों के अंदर मान का खयाल सर्वोपरि था। मान के मुकाबले उन्हें व्यक्तिगत या राष्ट्रीय जीवन का भी कोई महत्त्व नज़र नहीं आता था। ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं, जिनमें राजपूतों ने पहले अपनी रमणियों का कत्ल किया और फिर तलवारें लेकर स्वयं जान पर खेलते हुए शत्रु पर टूट पड़े।

रीतियाँ, संस्थाएँ और खयाल

इसी प्रकार के खयाल के आधार पर जातियों के अंदर अपनी-अपनी संस्थाएँ और रीतियाँ या नैतिक रिवाज बनाए जाते हैं। स्त्री जाति के दरजे को लीजिए। कुछ जातियों के अंदर स्त्री को निम्न समझकर परदे में रखने का रिवाज है। कुछ पश्चिमी जातियों के अंदर न केवल स्त्रियों बल्कि लड़कियों को भी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। यहाँ तक कि माता-पिता की अनुज्ञा के बिना ही लड़कियाँ अपने विवाह का प्रबंध कर सकती हैं। इस आयु में न लड़की के अंदर विचारशीलता का इतना भाव होता है, न लड़के के अंदर। प्राय: कामभाव के प्रभुत्व में, जिसे प्रेम का नाम दिया जाता है, संबंध हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि थोड़े ही समय बाद संबंध विच्छेद या तलाक की बारी आ जाती है। जापान में परदा तो दूर रहा, एक स्थान में स्त्री और पुरुषों के बिलकुल नंगे नहाने का रिवाज है। हिंदुस्तान इससे घबराता है। परंतु इससे इतना तो सिद्ध होता है कि वहाँ के लोग कामभाव के इतने गुलाम नहीं हैं और स्त्री को नग्न देखकर भी अपने मन पर काबू रख सकते हैं।

स्याम जैसे छोटे से देश में स्त्री-पुरुष के पहनावे और सिर के बालों मे भी कोई विशेष भेद नहीं होता। वहाँ पर स्त्रियों को न केवल राजनीतिक अधिकार वैसे ही दे दिए गए हैं, बल्कि पुरुषों से अधिक शक्ति प्राप्त है। इसका एक कारण यह है कि कुछ समय पहले वहाँ की स्त्रियों ने अपनी सेना बनाकर बर्मा के लोगों के

आक्रमण से अपने देश की रक्षा की थी।

हिंदुओं के अंदर स्त्री और पुरुष का दरजा बराबर है। विवाह के पश्चात् पुरुष को पति और स्त्री को पत्नी कहा जाता है। भगवद्‌गीता में बेटों के नाम माता के नाम पर दिए हैं और विवाह को धर्म समझा गया है (इसलिए यह अधिकता माता-पिता के अधिकार में होती है)। यहाँ तक कि स्त्री-पुरुष के समागम के समय भी वेदमंत्रों के द्वारा गर्भाधान करना लिखा है। गर्भाधान संस्कार इसलिए किया जाता है कि जो संतान हो, वह कामभाव की विशेषतावाले वीर्य से न हो, बल्कि धर्मभाववाले वीर्य से हो। विवाह को एक पवित्र धर्म समझने का खयाल था, जिससे इस देश में सती की रस्म जारी हुई। इस प्रकार की पवित्र स्त्रियाँ हिंदुस्तान मे ही जन्म लेती रही हैं, जिन्होंने अपने प्रेम को पवित्र एवं मिलावट-रहित रखने के लिए अपने शरीर का बलिदान किया। यहाँ तक ही नहीं, यह भी कहा गया है कि आप्त धर्म के तौर पर स्त्री अपने पति का नाम बनाए रखने के लिए अपनी पवित्रता को भी कुरबान कर सकती है।[१]

समाज की उन्नति का आधार

मत्सीनी समाज की नींव और उन्नति संगति के सिद्धांत पर आश्रित समझता है। वेदमंत्र भी यही कहता है, 'हम सब परस्पर मिलकर बैठें, सबके विचार एक से हों, हमारी आशाएँ एक जैसी हों।'[२] हरबर्ट स्पेंसर समाज की नींव सहयोग[५] को समझता है। इसे वह दो प्रकार का बतलाता है। एक वह, जिसमें व्यक्तिगत लाभ दृष्टिगोचर हो; दूसरा वह, जिसमें समाज के सामूहिक लाभ का भाव प्रबल हो। पहली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक कर्तव्य इसलिए मुकर्रर होते हैं कि उनकी पूर्ति से स्वयं उसे लाभ पहुँचता है और समाज की उन्नति होती है। दूसरी अवस्था में समाज परस्पर मिलकर उस विशेष कार्य को अपने हाथ मे लेता है, जिसकी पूर्ति से समाज को बल प्राप्त होता है और व्यक्तियों को व्यक्तिगत लाभ।

दूसरे सिद्धांत का आधार युद्ध है। अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अन्य कबीलों या जातियों के साथ संघर्ष और युद्ध ही युद्धप्रिय समाज का सिद्धांत है। यूरोप के राष्ट्र अभी तक इसी सिद्धांत के अनुसार बढ़ते और उन्नति करते चले आए

---

१ नियोग की ओर संकेत है।

२ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

हैं। यह स्पष्ट है कि जिन राष्ट्रों में इस प्रकार का सहयोग होगा, वे ज्यादा सामाजिक होंगे, अर्थात् उनमें परस्पर एक-दूसरे के साथ अधिक सहानुभूति होगी। पड़ोसी राष्ट्रों से घृणा और स्वदेशवासियों के प्रति प्रेम, यह यूरोप की देशभक्ति का मूल मंत्र है। परंतु जो राष्ट्र पहली किस्म के सहयोग पर समाज को चलाएँगे वे स्वभावत: कम सामाजिक होंगे, अर्थात् उनमें पारस्परिक सहानुभूति कम होगी।

हरबर्ट स्पेंसर इससे यह निष्कर्ष भी निकालता है कि जो राष्ट्र या जातियाँ अधिक सामाजिक होती हैं वे उन राष्ट्रों या जातियों पर राज करती हैं, जो कम सामाजिक होती हैं। यूरोप के राष्ट्रों ने जब से सभ्यता के पथ पर पग रखा है तब से उनके अंदर सहयोग का यही सिद्धांत काम कर रहा है। इसी कारण वे एशिया की जातियों के मुकाबले बहुत ज्यादा सामाजिक हैं।

हिंदू समाज का आधार—यज्ञ

संभव है, आरंभ में हिंदुस्तान में आर्य जाति को लड़ाई-भिड़ाई से काम लेना पड़ा हो; परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके समाज का आधार पहले प्रकार का सहयोग रहा। इसमें हर एक सदस्य अपने-अपने धर्म का पालन करने में स्वतंत्र है (यद्यपि ये धर्म या कर्तव्य निश्चित करने में समाज का हित सामने रखा गया है)। यही कारण है कि हम हिंदू जाति के अंदर आधुनिक देशभक्ति का भाव कम पाते हैं और उनको इसे सीखने में भी लंबा समय लग रहा मालूम देता है।

हिंदू समाज की नींव दूसरों के विरुद्ध संघर्ष पर नहीं खड़ी थी, बल्कि एक अन्य बड़े सिद्धांत पर, जिसे वेदों और भगवद्गीता में यज्ञ का नाम दिया गया है। इसका अर्थ ऊँचे के लिए निम्न का बलिदान है। वेद में कहा गया है, 'मेरी आयु यज्ञ के अर्पण हो। मेरी आँखें यज्ञ के अर्पण हों। मेरी बुद्धि और मन यज्ञ के अर्पण हों।'[१] अन्यत्र कहा गया है, 'यज्ञ ही विष्णु है।'[२] भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक १०[३] में यही भाव पाया जाता है—'प्रजापति ने यज्ञ से इस संसार को उत्पन्न किया।' यज्ञ वह कार्य है, जिसका करना केवल धर्म के तौर पर आवश्यक हो और जिसमें लेशमात्र का भी स्वार्थ न हो। संसार में मनुष्य जो भी काम करता है, किसी-न-

---

१ आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पताम्। *(यजुर्वेद, १८/२९)*

२. 'यज्ञो वै विष्णुः'।

३ सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

किसी लाभ को सामने रखकर करता है दूसरो की भलाई के कार्य भी प्राय इसलिए किए जाते हैं कि शिक्षा तथा उपदेश आदि से मनुष्यों का स्वभाव ऐसा बन जाता है कि उन्हें दूसरों के भले का काम करने में आनंद होता है। यज्ञ वह कार्य है, जिसमें आनंद की परवाह भी न हो। इसी अध्याय तीन के श्लोक ११[१], १२[२] तथा १३[३] और अध्याय चार के श्लोक २५[४] आदि में यज्ञ का स्पष्ट वर्णन किया गया है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करना एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। देवता के अंदर आचार्य, माता और पिता भी सम्मिलित हैं।

यज्ञ क्या है?

'यज्ञ' शब्द भी संस्कृत के कई अन्य शब्दों की तरह पहले सामूहिक अर्थ में प्रयुक्त होता था। एक समय के पश्चात् इसका प्रयोग सीमित होकर विशेष अर्थ में होने लगा। यज्ञ 'यज्' धातु से निकला है। 'यज्' के अर्थ देव-पूजा, दान और संगति है। इसी आधार पर प्राचीन आर्यों के समाज में हर मनुष्य के लिए पाँच बड़े दैनिक कर्तव्य बनाए गए हैं, जिनको 'पंच महायज्ञ' कहा जाता है। ब्रह्म-यज्ञ अर्थात् आत्मिक उन्नति के लिए स्वाध्याय, देव-यज्ञ अर्थात् हवा की शुद्धि के लिए अग्निहोत्र या होम, पितृ-यज्ञ अर्थात् बड़ों की सेवा, अतिथि-यज्ञ अर्थात् घर आए का मान और बलिवैश्वदेव-यज्ञ अर्थात् पशु-पक्षियों को कुछ-न-कुछ खिलाना।

इन यज्ञों में दान और संगति के अतिरिक्त देव-पूजा बड़ा आवश्यक कर्तव्य है। इसलिए देव किसे कहते हैं, इस पर थोड़ा विचार करना लाभप्रद होगा। 'देव' शब्द 'दिव्' धातु से निकला है, जिसके कई अर्थ हैं—ज्योति, विजय, व्यवहार, स्तुति, मद, कांति, विचार, आनंद, क्रीड़ा आदि। इस प्रकार यज्ञ का अर्थ मनुष्यों की संगति के अतिरिक्त प्रकाश का विस्तार, पापियों पर विजय, आपस में अच्छा बरताव, प्रशंसनीय कार्य करना, स्वाभिमान की रक्षा, ज्ञान, उपकार आदि हैं। आर्य

---

१ देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

२ इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

३ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

४ दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥

भाषा—संस्कृत—में 'यज्ञ' सबसे मीठा और प्रिय शब्द है। यज्ञ का एक बड़ा सुंदर उदाहरण महाभारत में पाया जाता है। जब पांडवों ने युद्ध में विजय-लाभ करके अश्वमेध यज्ञ रचा, तब जीव-जंतु आदि सभी प्राणियों को यज्ञ का अवशेष—पवित्र भोजन—खिलाया गया। उस समय एक नेवला यज्ञ की वेदी पर आया। वहाँ सब ऋषि और पंडित बैठे थे। नेवले का आधा शरीर सोने का था। वह वेदी पर इधर-उधर लेटा। ऐसा करने के बाद उसने कहा, 'यह यज्ञ किसी काम का नहीं हुआ।' सभी ने आश्चर्य से पूछा, 'क्यों? तुम कैसे ऐसा कहते हो?' नेवले ने उत्तर दिया, 'एक समय बहुत भयानक दुर्भिक्ष पड़ा था। कई दिनों तक लोगों को खाना नही मिला। जंगल में एक कुटिया में एक ब्राह्मण, उसकी पत्नी, बेटा और बहू रहते थे। चार दिनों तक भूखे रहने के पश्चात् वह ब्राह्मण कहीं से कुछ जौ ले आया। लडके की माँ ने उससे चार रोटियाँ बनाईं। वे खाने के लिए बैठे ही थे कि द्वार पर किसी भूखे की आवाज आई—'अरे, मैं कई दिनों से भूखा मर रहा हूँ।' ब्राह्मण उसे कुटिया के अंदर ले आया और अपने हिस्से की रोटी उसके सामने रख दी। परंतु इससे उसकी तृप्ति नहीं हुई। एक-एक कर सबने अपनी-अपनी रोटी उसे अर्पण कर दी। वह तो खाकर चलता बना, परंतु अगले दिन उस कुटिया में चार मुरदे पाए गए। मैं वहाँ जा पहुँचा। जौ के आटे के कुछ कण मेरे शरीर के एक तरफ लग गए। बस, उसी समय यह आधा भाग सोने का हो गया। इस यज्ञ में मैं यह देखने आया था कि यहाँ पर मेरा बाकी आधा शरीर भी वैसा ही स्वर्णमय बनता है या नहीं; परतु इस यज्ञ का मुझ पर कोई प्रभाव दिखलाई नहीं देता।'

राज्य का आरंभ

फ्रांस की प्रसिद्ध क्रांति से कुछ समय पहले रूसो* ने फ्रांसीसी भाषा मे एक छोटी सी पुस्तक 'सामाजिक मुआहिदा' लिखी। इसमें बतलाया गया, 'आदमी प्राकृतिक अवस्था में बहुत प्रसन्न था। तब मनुष्य स्वतंत्र और बराबर थे। वर्तमान समाज की अवस्था में आकर आदमी बहुत गिर गया है।' यह खयाल बिलकुल नया था। अमीर लोग इस प्रस्ताव की खिल्ली उड़ाते थे। कार्लाइल ने उसी समय भविष्यवाणी के रूप में कहा, 'जो लोग इस नए विचार पर हँसते हैं, उनके पोतो के शरीर के चमड़े इस पुस्तक की जिल्दें बाँधने के काम आएँगे।' यह भविष्यवाणी क्राति के समय ठीक सिद्ध हुई।

* रूसो (Rousseau), दे. वही, पृ. ४०७।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध विद्वान् लॉक[1] और हाब्स[2] दोनों समाज को राजा और प्रजा के पारस्परिक मुआहिदे पर आश्रित मानते हैं। इनमें थोड़ा सा ही अंतर है। हॉब्स कहता है, 'जब एक बार प्रजा ने समस्त अधिकार राजा के हाथ में दे दिए, तब वे उन्हें वापस नहीं ले सकते। इस कारण राजा का पद एकतंत्र शासक का है।' इसके मुकाबले पर लॉक का मत है कि प्रजा ने सिर्फ इकरार किया है। वह इस इकरार को वापस ले सकती है।

राज्य और महाभारत

महाभारत का शांतिपर्व राजनीति, युद्ध तथा शांति और राज-शासन के विषयों पर उच्च कोटि का व्याख्यान है। पुराना होने पर भी वह वर्तमान काल में भी वैसा ही शिक्षाप्रद है। उसमें भी राज्य के आरंभ के बारे में विचार किया गया है। वहाँ बताया गया है कि प्रारंभिक काल, सत्ययुग में मनुष्य सीधे-सादे और प्रायः शुद्ध आचार के थे।[3] तब न कोई चोरी करता था, न झूठ बोलता था और न किसी को दुःख देता था। तब न दंड की आवश्यकता थी, न कानून की। जब प्रजा बहुत बढ़ी तब लोगों के अंदर झूठ, चोरी आदि पाप शुरू हुए। इनसे तंग आकर कुछ लोग प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने कहा, 'तुम सब मिलकर अपने में से एक को राजा बनाओ, जो सबकी रक्षा करे। इसके बदले में तुम लोग अपनी उपज का दसवाँ और संपत्ति, अर्थात् बैलों आदि का चौथा हिस्सा उसकी भेंट करो।' इसके अनुसार मनु पहला राजा बनाया गया। उसने विभिन्न कानून आदि बनाए। आगे चलकर महाभारत में यह भी बताया गया है कि राजा को हटा देना भी प्रजा के हाथ में है। जब कोई राजा प्रजा की रक्षा करने की योग्यता न रखता हो तब उसे बाँझ स्त्री या दूध न देनेवाली गौ समझकर एक तरफ हटा देना चाहिए। जरूरत के वक्त किसी मनुष्य को भी, चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, राजा बनाया जा सकता है। उसी प्रकार जिस तरह नाव के डूबने के समय जो कोई भी नाव को बचा सके, उसे ही नाविक बना देना चाहिए। महाभारत में राज्य का काम चलाने के लिए दो सभाएँ बनाने का उल्लेख है। इनमें चारों वर्णों के प्रतिनिधि चुने जाने चाहिए। आंतरिक सभा—अर्थात् मंत्रिसभा—में चार ब्राह्मण, तीन क्षत्रिय, दो वैश्य और एक शूद्र होना

१ लॉक (Locke), दे. वही, पृ. ३५२, ३४९-५२।

२ हॉब्स (Hobbes), दे. वही, पृ. २९९, २९७-३००।

३ न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ *(महा., शांतिपर्व, ५९/१४)*

चाहिए दूसरी बड़ी सभा मे चार ब्राह्मण, दस क्षत्रिय, बीस वैश्य और दस शूद्र हो

उन्नति और अवनति

ब्रह्मांड के चलने का निराला ढंग है। इसमें किसी चीज को, चाहे वह कितनी ही उत्तम क्यों न हो, सदा के लिए स्थिरता प्राप्त नहीं होती। सर्वोत्तम सिद्धांतों के अंदर ही उनके विनाश का बीज विद्यमान होता है। राष्ट्र उन्नति करते हैं। उनकी शक्ति बढ़ती है। शक्ति बढ़ने पर घमंड हो जाता है। घमंड के कारण वे अंधे हो जाते हैं और अपने दोषों को देख नहीं सकते।

जिस धन-दौलत की वृद्धि पर हमें इतना गर्व होता है, उसके अंदर ही विषयासक्ति और विलासप्रियता का बीज होता है; उसी प्रकार जिस प्रकार विद्यार्थी के परिश्रम के अंदर उसके भावी सुख का बीज होता है। धन जमा करने से भोग-विलास बढ़ता है। विषयासक्ति का भाव बुद्धि पर परदा डाल देता है। इस प्रकार मदांध राष्ट्र दूसरों के साथ न्याय या अन्याय की परवाह नहीं करते। प्राचीन काल मे जिन लोगों ने जातीय अभिमान के वश में होकर बड़े-बड़े साम्राज्य बनाए, वे एक दिन ऐसे गिरे कि उनके गुलामों का प्रभुत्व उन पर हो गया। उन्होंने सबको अपने अंदर आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। चाहे वे पचा सके या नहीं, उन्होंने इस सिद्धांत को बिलकुल भुला दिया कि गुलाम का मालिक भी वैसे ही जंजीरों में कैद होता है जैसे गुलाम; क्योंकि मालिक को सदा गुलाम की फिक्र रहती है। यह कहा जा सकता है कि पिछले लोगों के पतन के कारण समझने में हम अपने आपको गिरने से बचा लेंगे; परंतु उन कानूनों की प्रक्रिया को हम सदा के लिए नहीं रोक सकते। प्राकृतिक नियम अटल हैं। शराब पीने से नशा होता है। ऐसे ही दूसरों पर प्रभुत्व प्राप्त करने से मद या घमंड उत्पन्न होता है।

भगवद्गीता के अध्याय सात के श्लोक ३०* में कहा गया है, 'ज्ञानी मुझको ही अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञ जानते हैं। मैं ही समस्त संसार को उत्पन्न करता हूँ; मैं ही उसे चलाता हूँ और उसका नाश भी करता हूँ। मैं ही साम्राज्यों को बनाता और बिगाड़ता हूँ। ये मेरे नाटक के दृश्य हैं। यह कालचक्र अनादि काल से इसी प्रकार चला आता है।'

भगवद्गीता का ग्यारहवाँ अध्याय सबसे बढ़कर सुंदर दृश्य पेश करता है।

---

* साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

इसमें ब्रह्म के विराट स्वरूप अर्थात् सृष्टि की स्थिति और विनाश के दृश्यो क वर्णन ऐसे शब्दों में किया गया है, जो मानवी कलम का काम नहीं है। कहा गया है, 'मैं सबसे बड़ा काल हूँ, जो सबका नाश करता है।'[1] देखो, 'ये सारे योद्धा किस तरह मेरी दाढ़ों के नीचे आकर पिस रहे हैं। अर्जुन, तुम केवल निमित्त मात्र हो।[2] यह चक्र तो स्वयमेव मेरी शक्ति से चल रहा है।' कवित्व की उड़ान और सौंदर्य इससे आगे नहीं जा सकते। इसी कारण अर्जुन अंत में, अध्याय अठारह के श्लोक ७७[3] में, कहता है, 'हे हरि! मैं उस अद्भुत स्वरूप को बार-बार याद कर प्रसन्न होता हूँ।' यहाँ पहुँचकर इतिहास दर्शन और दर्शन इतिहास में परिणत हो जाता है—दोनों एकरूप हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों हमारे अंदर ब्रह्म का चित्र वास्तविकता के निकट पहुँचता है त्यों-त्यों हमारा दर्शन वास्तविक अस्तित्व और उसके प्रदर्शन को वस्तु और उसकी छाया को एक ही समझने लगता है।

□

१. देखिए श्लोक ३२—
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

२. देखिए श्लोक ३३—
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।

३. तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥

नौवाँ परिच्छेद

देवासुर संग्राम

प्राकृतिक निर्वाचन

डारविन ने जहाँ विकास का निरूपण किया है, वहाँ उसकी प्रक्रिया को एक खास कानून में लाना आवश्यक समझा है। विकास योग्यतम अवशेष के कानून पर चलता है। वनस्पतियों और जानवरों में परस्पर और एक-दूसरे के विरुद्ध एक संघर्ष चल रहा है, जिसका कारण यह है कि हर एक अपने आपको बचाने की कोशिश करता है—इस बात की परवाह किए बिना कि दूसरे इससे मरते हैं या जीते हैं। इस संघर्ष में जो प्राणी बाह्य परिस्थिति के अधिक अनुकूल होगा वह बच जाएगा, शेष मारे जाएँगे। दूसरे शब्दों में, स्वयं प्रकृति योग्यतम का निर्वाचन करती है और वही वनस्पतियों और जानवरों में उन्नति करता है। जैसा पहले भी कहा गया है, योग्य का अर्थ यह नहीं है कि वह निश्चय ही सबसे अच्छा हो। वास्तव में देखा जाय तो वनस्पति और पशु-जगत् में 'अच्छा' शब्द का अर्थ सिवा इसके कुछ नहीं है कि उसे बाह्य परिस्थिति अधिक पसंद करती है।

बाह्य परिस्थिति में मनुष्य का बड़ा भाग है; परंतु जब हम मानव सृष्टि में आते हैं तब 'योग्य' का अर्थ भी उन्नति करने लगता है। यहाँ पर जीवित रहने के लिए मनुष्य को बाह्य परिस्थिति के अनुकूल बनाना ही पर्याप्त नहीं है। उसे अपने परिवार को भी योग्य बनाना चाहिए, नहीं तो किसी दूसरे योग्य परिवार के मुकाबले वह अकेला जीवित नहीं रह सकेगा। परिवार के जीवित रहने के लिए यह जरूरी है कि वह अपने कबीले को भी बलवान् बनाए। और कबीले के लिए अन्य जातियों या राष्ट्रों के मुकाबले जिंदा रहने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी उस

जाति या राष्ट्र को योग्य बनाए, जिसमें कई कबीले सम्मिलित हैं, नहीं तो किसी भी योग्य जाति या राष्ट्र के मुकाबले में वह कबीला मारा जाएगा। राष्ट्रों या जातियों मे सबसे अधिक वह फैलेगी जो प्रकृति के कानूनों को मालूम करके प्राकृतिक शक्तियों पर अपना अधिकार जमा लेगी और साथ ही प्रकृति की उत्पन्न की हुई बीमारियों से अपने आपको बचा सकेगी। मनुष्य के संबंध में यह कथन अधिक यथार्थपूर्ण है कि दूसरों के मुकाबले में वह मनुष्य जीवित रहेगा जिसके राष्ट्र, कबीले और परिवार में दूसरों की अपेक्षा अधिक योग्यता पाई जाती है। अब मनुष्य का मापदंड आदर्श व्यक्तिगत नहीं रहता, बल्कि राष्ट्रीय हो जाता है।

डारविन का अन्वेषण

डारविन ने वनस्पतियों के असंख्य उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि विभिन्न प्रकार की घास खेत में परस्पर संघर्ष करती है। खेत में पहले एक घास होती है। थोड़े समय के पश्चात् दूसरी बढ़ना शुरू करती है। यदि दूसरी अधिक बलवान् होती है तो वह पहली के लिए बढ़ने की कोई जगह नहीं छोड़ती। यही हाल वृक्षों का है। किसी बड़े वृक्ष के निकट छोटे पौधे बढ़ नहीं सकते, क्योंकि वहाँ की भूमि से सारी खुराक बड़ा वृक्ष अपने लिए खींच लेता है। अब जानवरों को लीजिए। मछलियों में बड़ी अपने से छोटी पर निर्वाह करती है। जंगल के पशुओं का भी यही हाल है। बलवान् जानवर निर्बल को मारकर खा जाता है। कीड़े-मकोड़े पक्षियों के भोजन हैं। प्रायः वही कीड़े बचकर बढ़ते हैं जिनका रंग दरख्तों के पत्तों या फूलों के समान होता है और इस कारण वे आसानी से छिप सकते हैं। हिरनों की वह जाति बढ़ती है, जो ज्यादा तेज दौड़ने की वजह से अपने को बचा सकती है। धीरे दौड़नेवाले हिरन आसानी से शत्रु का शिकार हो जाते हैं। अन्य प्राणियों के अतिरिक्त प्रकृति का भी बाह्य परिस्थिति में बड़ा हाथ होता है। जहाँ बहुत अधिक सर्दी पड़ती है वहाँ वही जानवर अपनी नस्ल फैला सकते हैं, जिनके शरीर पर बाल अधिक हों। गरम और रेतीले स्थानों में ऊँट की वृद्धि का अवसर होता है, क्योंकि वह कई दिनों तक पानी के बिना गुजारा कर सकता है।

हरबर्ट स्पेंसर और निर्वाचन का कानून

हरबर्ट स्पेंसर का मत है कि समाज के अंदर विभिन्न सदस्यों के बीच जाति या राष्ट्र के अंदर उसके विभिन्न हिस्सों के बीच और संसार में विभिन्न राष्ट्रों या जातियों के बीच जीवित रहने के लिए संघर्ष पाया जाता है। यूरोप में समाज की

विभिन्न श्रेणियों के अंदर यह संघर्ष प्राचीन काल से चला आ रहा है रोम के इतिहास में इसका प्रमाण गरीबों और अमीरों की कशमकश में मिलता है। इस संबंध में एक कथा प्रसिद्ध है। रोम के निर्धन पेशेवाले लोग शहर को छोड़कर एक पहाड़ी पर जाकर आबाद हुए। उनकी शिकायत थी कि कमाते तो हम हैं, परंतु भोग-विलास धनी करते हैं। एक वृद्ध ने उनके पास जाकर उन्हें पेट और पाँव का उदाहरण यों दिया, 'एक बार हाथों और पैरों ने काम करना छोड़ दिया, इस कारण कि काम करने का कष्ट तो वे उठाते हैं, परंतु खाने के वक्त सबकुछ पेट हड़प जाता है। हाथ-पाँव ने काम करना छोड़ दिया और पेट में कुछ नहीं गया। अब हाथ-पाँव भी सूखने लगे। ऐसी ही दशा तुम्हारी होगी।' इस उदाहरण से प्रभावित होकर वे सब पेशेवाले वापस शहर में आ गए।

यूरोप में यह संघर्ष खास ढंग पर चलता है। पहले-पहल समाज पर चर्च का प्रभुत्व था। यहाँ तक कि बादशाह भी पोप और उसके पादरियों से काँपते थे। सुधार के आंदोलन के पश्चात् सारा अधिकार चर्च के हाथ से निकलकर बादशाहों और उनके सरदारों के हाथों में चला गया। तत्पश्चात् फ्रांस की क्रांति ने एक और परिवर्तन उत्पन्न कर दिया, जिससे यह शक्ति जनसाधारण के हाथों में चली गई। तब यूरोप में बादशाही का कोई महत्त्व नहीं रहा। गत अर्ध शताब्दी में मजदूर लोग, जो यूरोप के शूद्र समझे जाने चाहिए, जाग उठे। यूरोप का भावी संघर्ष इन्हीं लोगों का होगा। उनका भविष्य स्पष्टतया उज्ज्वल दिखलाई देता है।

देवासुर संग्राम

मानव-जगत् में इस संघर्ष का उल्लेख करते हुए भगवद्गीता के अध्याय सोलह में इसे दैवी और आसुरी प्रकृतियों के मध्य द्वंद्व का रूप प्रकट किया गया है। इन दोनों प्रकृतियों का संग्राम सदा चलता रहता है। श्लोक ९ * में बताया गया है—'आसुरी प्रकृति के लोग मनुष्य जाति के शत्रु होते हैं। उनकी अपवित्रता, चालाकी और दंभ संसार में विनाश लाते हैं।' दैवी प्रकृतिवाले संसार का भला करते हैं। निर्भयता, शौच, सत्य आदि उनके गुण होते हैं। पशु-जगत् में तो यह मामला बिलकुल ही साफ है। भेड़ और भेड़िये से पूछिए, 'कौन सी बात अच्छी है—निर्बल की रक्षा करना या उसे खा जाना?' भेड़ तो यह कहेगी, 'निर्बल की रक्षा

---

* एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥

करना धर्म है।' किंतु भेड़िया इसके ठीक उलटा कहेगा। मनुष्य की अवस्था में ये दोनों परस्पर विरोधी प्रकृतियाँ हैं। मनुष्य भी प्राय: दो प्रकार के हैं। कुछ ऐसे हैं, जो बीज के समान अपने आपको विनष्ट करके बड़े फलदार वृक्ष पैदा करते हैं। बहुत से ऐसे हैं, जो दूसरों का नुकसान करके खुश होते हैं। इन दोनों प्रकृतियों का संघर्ष संसार में सदा जारी रहता है। मनुष्य के अंदर भी हर समय दोनों प्रकार के भावों का द्वंद्व युद्ध होता रहता है। जीत कभी देव-भाव की तो कभी आसुर-भाव की होती है। क्षण-क्षण की इस जीत या हार के अनुसार मनुष्य ऊपर उठता या नीचे गिरता है।

देवताओं और असुरों का युद्ध

पुराणों के अंदर रूपक के तौर पर देवताओं और दैत्यों के बीच युद्ध का उल्लेख अकसर पाया जाता है। उपनिषद् में देवताओं का अर्थ 'इंद्रियाँ' और असुर का अर्थ 'विषय' किया गया है। ये प्रतिक्षण आपस में लड़ाई करते हैं। यदि और आगे देखा जाय तो मालूम होता है कि संसार में दैवी और आसुरी गुणों का युद्ध हमेशा ही चलता रहता है। एक लड़की जब लाखों रुपयों पर लात मारकर अपनी पवित्रता की रक्षा करती है तब उसमें दैवी गुण की विजय होती है। यदि वह अपनी पवित्रता की रक्षा में प्राण दे देती है तब भी दैवी गुण की जीत होती है; परंतु इस विजय-प्राप्ति से पूर्व दोनों प्रकार के गुणों का बड़ा भारी युद्ध होता है।

मनुष्य का शरीर तो मरने के लिए बना है, केवल विचार या खयाल जीवित रहता है। इन विचारों से वह देवलोक या इंद्रलोक बनता है, जहाँ पितृगण या मृत पूर्वज रहते हैं। भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के श्लोक ४२* में जिस पिंड आदि का उल्लेख है, उससे पूर्वजों की स्मृति कायम रखना अभीष्ट है। दुनिया में अंधकार और प्रकाश का, सफाई और गंदगी का, धर्म और अधर्म का युद्ध सदा से ही जारी है। जब लाखों फ्रांसीसी या जर्मन सिपाही मैदान में आमने-सामने आकर तलवार और गोले चलाते हैं तो वे व्यक्ति इतनी महत्ता नहीं रखते। असली लड़ाई तो दो गुणों के मध्य में होती है। एक देश दूसरे देश के साथ थोड़ा अन्याय करता है। इस अन्याय के विरुद्ध दूसरे देश में घृणा की आग भड़कती रहती है। दोनों विचारों की शक्ति बढ़ती है और एक दिन अन्याय तथा घृणा परस्पर युद्ध के लिए इकट्ठे होते हैं। महाभारत का युद्ध दुर्योधन के विरुद्ध नहीं, बल्कि रावण और कंस के विरुद्ध

---

* संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रिया:॥

युद्ध की तरह दैत्य गुण के विरुद्ध था। सिख जब मुगल सेना से युद्ध करते थे तब उनके अंदर गुरु तेग बहादुर का कटा हुआ सिर लड़ता था, अर्थात् सिखों के दिलो मे गुरु के हौतात्म्य या शहादत का भाव जोश भरता रहता था।

नए विचार के विरुद्ध युद्ध

एक महापुरुष जब संसार में कोई नया विचार पैदा करता है, तो वह उस समय तात्कालिक सभी शक्तियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करता है। यह विचार राजनीतिक स्वतंत्रता का भी हो सकता है और मज़हबी स्वतंत्रता का भी। एक मनुष्य अपने व्यक्तित्व के आधार पर एक नया मज़हब चलाता है। उसका विचार लाखों-करोड़ों मनुष्यों के दिमाग पर अधिकार जमाकर उन्हें अपना माध्यम बना लेता है। ऐसे ही विचारों ने संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। खयाल या विचार के सामने एक क्या, लाखों मनुष्यों के जीवन का कोई महत्त्व नहीं होता। एक मज़हबी खयाल के प्रभुत्व के कारण कितने युद्ध हुए, कितने निर्दोष मारे गए, बेचारे मनुष्य पर क्या-क्या मुसीबतें आईं। अपने अंदर गंदगी जमा करके मनुष्य प्लेग या ताऊन जैसी वबाई बीमारी का बीज पैदा कर देता है, जो पूरे नगर या प्रांत में तबाही मचा देता है। बुरा खयाल या कुत्सित विचार भी ऐसा ही होता है। ईसा ने एक गुलाम कौम मे जन्म लिया; उनकी शिक्षा भ्रातृत्व और भ्रातृ-प्रेम के भावों से भरी थी। शक्ति-सपन्न लोगों ने इन भावों को दबाना चाहा; परंतु ईसा सफल हुए।

ईसा से पहले एक मनुष्य ने सामाजिक अन्याय के विरुद्ध अपना बलिदान कर दिया। रोम में दो गुलामों को लड़ाकर तमाशा देखने का बड़ा शौक था, वैसे ही जैसे हमारे देश में बैलों, बटेरों या मुरगों को लड़ाने का शौक पाया जाता था। यह लड़ाई बड़े-बड़े थिएटरों में हुआ करती थी। दोनों में से एक गुलाम के मारे जाने पर हजारों दर्शक खुश होते थे। एक बार यह तमाशा होने लगा। दोनों ओर से तलवारें चमक रही थीं कि अचानक एक वृद्ध दोनों के बीच में आकर खड़ा हो गया। बुड्ढा लहूलुहान होकर भूमि पर गिर पड़ा। परिणामस्वरूप यह तमाशा सदा के लिए बंद हो गया। यह आदमी शायद आर्कमेडीज था या आर्टेमेडीज। कुछ भी हो, इतनी बड़ी आसुरी शक्ति के विरुद्ध दैवी गुण ने चुपके से युद्ध किया और विजय प्राप्त की।

इन प्रकृतियों के अंतस्तल में

आसुरी प्रकृति के अंतस्तल में आत्मप्रियता या खुदपसंदी का भाव काम

करता है और दैवी प्रकृति के अतस्तल मे आत्मविस्मृत या बेखुदी का आत्म प्रियता का वर्णन भगवद्गीता के अध्याय सोलह के श्लोक, १३[१], १८[२], १९[३], २०[४] और २१[५] में पाया जाता है। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य का सोचना होता है कि जिस वस्तु का संबंध उसके अस्तित्व से है वह सबसे अच्छी है; किसी अन्य वस्तु का उससे अच्छा होना संभव ही नहीं। वह जिस मज़हब को अपना मान लेता है उसके लिए उसके दिल में ऐसी धर्मांधता उत्पन्न हो जाती है कि वह दूसरों को दुनिया से मिटा देना चाहता है। जिस देश में उसका जन्म होता है, उसके लिए वह समस्त ससार को नष्ट करने पर तैयार हो जाता है। अपनी इच्छा के मुकाबले पर वह किसी दूसरे की इच्छा की परवाह नहीं करता।

ऐसे मनुष्य केवल अपने अधिकारों को ही समझते हैं, उन्हें स्व-कर्तव्य का कभी ध्यान नहीं होता। मत्सीनी कहता है, 'फ्रांस की क्रांति में ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत ज्यादा थी। वे हर समय अपने अधिकारों का उल्लेख करते थे। इसी कारण वह क्रांति सफल नहीं हुई।' जिस समाज के सभी सदस्य अपने अधिकारों का ही ध्यान करें, उसकी अवस्था खराब ही रहती है। अगर कुछ लोग इकट्ठे खाने पर बैठे हों और हर आदमी ज्यादा खाने की कोशिश करे तथा दूसरों का ध्यान न रखे तो उनमें झगड़ा ही होगा। स्वार्थी कभी आपस में मेल नहीं कर सकते।

एक कहानी इस बात को स्पष्ट करती है। तीन आदमी मौत को मारने के लिए चल पड़े। रास्ते में मौत का फरिश्ता एक बूढ़े का रूप धारण किए उनको मिला। उसने उनको भूमि में गड़े हुए एक खज़ाने का पता बताया। तीनों ने मेहनत करके उस धन को खोदकर निकाला। उनमें से एक आदमी को रोटी लाने के लिए शहर भेजा गया। तीनों के मन में बेईमानी आ गई। जो खाना लाने गया था, वह रोटी मे जहर डाल लाया। बाकी दोनों ने उसके आते ही झगड़ा करके उसे मार डाला

---

१ इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

२ अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

३ तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

४ आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

५ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

और स्वयं रोटी खाकर मर गए। आसुरी समाज ऐसे व्यक्तियों का बना होता है। वे स्वयं नष्ट होते हैं और समाज का भी नाश कर देते हैं।

नीत्शे और देवयोनि

जर्मन दार्शनिक नीत्शे वर्तमान युग का एक बड़ा तत्त्ववेत्ता हुआ है। उसने विकास के सिद्धांत से एक कदम आगे बढ़ने का यत्न किया है। वह संघर्ष और निर्वाचन के कानून को ही पर्याप्त नहीं समझता। वह कहता है, 'विकास सिद्धांत के साथ-साथ प्रकृति का एक विशेष उद्देश्य भी है। वह है नमूने की उत्तमता उत्पन्न करना। प्रकृति में यह सतत प्रयत्न पाया जाता है कि योनि या जाति का अगला नमूना पहली सभी योनियों से उत्तम हो। प्रकृति की सहायता से हम मनुष्य की अवस्था में पहुँचे हैं। इसलिए अब हमारा कर्तव्य है कि अपने अंदर से एक ऐसी नई योनि या जाति पैदा करें, जो शारीरिक और मानसिक विशेषताओं में वर्तमान मनुष्य से ऐसे ही आगे हो जैसे मनुष्य पशुओं से आगे है।'

नीत्शे ने इस योनि की जाति का नाम देवयोनि* रखा है। इसको उत्पन्न करने का उसका खास तरीका है। वह कहता है, 'प्रकृति में असमता है। मनुष्य भी बुद्धि में बड़ा भेद रखते हैं। इस असमता या नाबराबरी से हमें लाभ उठाना चाहिए; बल्कि इस नाबराबरी का उद्देश्य ही यह है कि जो मनुष्य शारीरिक और मानसिक तौर पर उच्च कोटि के हैं, उनकी नस्ल को उन्नति देकर एक नई योनि पैदा की जाय; ऐसे ही जैसे रेत में से सोने के कणों को चुन लिया जाता है।'

आजकल फसलों की खेती इसी ढंग से करके बीज को बड़ा और उत्तम बनाया गया है। गेहूँ का मोटा दाना चुन-चुनकर खेती करने से उसे कौड़ी के बराबर कर लिया गया है। पुराने समय में हिंदुओं में गाय की नस्ल अच्छी करने की ओर विशेष ध्यान था। इस दृष्टि से अच्छी नस्ल का साँड़ छोड़ देना बड़ा पुण्य समझा जाता था।

निम्न श्रेणियों को नीत्शे मीनार की बुनियाद के समान समझता है। ये बुनियादें चौड़ी होती हैं, परंतु इनका काम केवल चोटी को सहारा देना होता है। विशेष व्यक्ति मीनारों की उन चोटियों के समान हैं, जो तूफान और आँधियाँ अपने सिर पर उठाती हैं, परंतु सदा सूर्य की चमक में रहती हैं। नीत्शे केवल इस उच्च श्रेणी को उत्पन्न करना ही निम्न श्रेणियों का उद्देश्य समझता है। वर्तमान साम्यवाद, जो सभी मनुष्यों को बराबर बनाना चाहता है, को वह एक रोग ठहराता है। ईसाई

---

* देवयोनि—Superman (सुपरमैन)। दे. वही, पृ. ५०५।

आचार नीति को वह एक गुलाम कौम का आचार समझता है इसलिए उसका मत है कि ईसाई खूबियों का कोई महत्त्व नहीं है।

मनु के नियम और नीत्शे

इस योनि को उत्पन्न करने के जो नियम नीत्शे ने बताए हैं, वे सब उसने प्राय: मनु के धर्मशास्त्र से लिये हैं। वह कहता है, 'संसार में बुद्धिमत्ता और अनुभव मनु ने एकत्र किए हैं। उसका निर्णय अंतिम है। उससे इधर-उधर जाने का कोई रास्ता नहीं है।' राष्ट्र के उत्कर्ष-पथ के लिए विशेष नियम बनाए गए हैं। वर्ण-व्यवस्था को वह अपने उद्देश्य के लिए आवश्यक समझता है। ब्राह्मण श्रेणी की और भी उन्नति करके वह नई योनि उत्पन्न करना चाहता है। आर्य शास्त्रों में ब्राह्मण को समाज की सभी विशेषताओं का सत माना गया है। इसी कारण यहाँ तक कहा गया है कि यदि शहर में आग लग जाय तो सबसे पहले ब्राह्मण को बचाना धर्म है। ब्राह्मण के मुकाबले अन्य श्रेणियों का महत्त्व इतना नहीं था। नीत्शे ब्राह्मण को पवित्रता तथा सुंदरता का प्रतिनिधि मानता है। उनका अधिकार शुद्ध होता है। अपने ऊपर संयम उनका काम है, तप उनका मनोरंजन है, ज्ञान उनका खेल है। ब्राह्मण राज की खातिर काम नहीं करते, बल्कि इस कारण कि उन्होंने राज के लिए जन्म लिया है।

ब्राह्मण का जीवन उपकार के लिए है, इसलिए हर अवस्था में अपने जीवन को बचाना उसका धर्म है। प्राचीन भारत में ब्राह्मण यद्यपि सभी चीजों का मालिक होता था, तथापि किसी चीज पर उसका अधिकार नहीं होता है। एक ब्राह्मण जब राजा के दरबार में नंगे सिर और नंगे पाँव जाता तब उसके तप के बल के कारण राजा भी खड़ा हो जाता।

भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक १४[१] और १५[२] में कहा गया है, 'ससार एक यज्ञ है, जिसमें हर एक चीज दूसरे के सहारे पर चलती है। सब प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न बादलों से और बादल सूर्य की किरणों से।' सूर्य सबसे अधिक यज्ञ-रूप है। उसकी किरणें समुद्र से भाप लेकर न केवल बादल बनाती हैं, बल्कि पौधों और मनुष्यों को जीवन भी देती हैं। यह यज्ञ ब्रह्म है। जो मनुष्य इस चक्र को आगे नहीं ले जाता, वह निष्फल ही जीता है। ब्राह्मण होना ही

---

१ अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

२ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

ससार को आगे ले जाने के लिए यज्ञ है।

नीत्शे और मनु में भेद

दार्शनिक और ऋषि के तरीके में एक अंतर है। नीत्शे उस नस्ल को उत्पन्न करने के लिए युद्ध को बड़ा पवित्र माध्यम समझता है। युद्ध के द्वारा अपने उत्कर्ष और शक्ति-वृद्धि के लिए वह युद्ध के प्राचीन देवता—वोडन—की पूजा करता है। ईसाइयों के खुदा की अपेक्षा वह वोडन को बहुत बलशाली मानता है। ऋषि मनु तो देव गुणों को विकसित करके सच्चे ब्राह्मणों के द्वारा देवयोनि उत्पन्न करना चाहते हैं। परंतु दार्शनिक नीत्शे इसका तरीका निम्न राष्ट्रों और श्रेणियों को दबाना तथा नष्ट करना समझता है। भगवद्गीता भी आसुरी भावों का विनाश करना बतलाती है। वह कहती है कि मनुष्यों में कोई द्वेष नहीं होना चाहिए। जब देवगुण संसार में उन्नति करेंगे तब निम्न गुण स्वयमेव मिट जाएँगे। छोटे भाव नहीं रहेंगे तो छोटी श्रेणियाँ स्वयं ही समाप्त हो जाएँगी। छोटे गुणों से मनुष्य छोटे हो जाते हैं और उत्तम गुणों से ऊँचे।

गीता में जहाँ क्षत्रिय के लिए युद्ध आवश्यक बतलाया गया है; वह केवल उस समय जब निर्बल की रक्षा करनी हो या किसी अन्याय को दूर करना हो। अध्याय अठारह के श्लोक ४३ * में क्षत्रिय के गुण वीरता, निर्भयता, साहस, युद्ध-कौशल और दान कहे गए हैं। डरकर भाग जानेवाला क्षत्रिय पाप का भागी होता है।

केवल निडरता काम की नहीं, इसके साथ बुद्धि अथवा विचार का भी होना जरूरी है। बहुतेरे लोग बिना बुद्धि से विचार किए कई कार्य शुरू कर देते हैं। वे अपने आपको और अपने साथियों को गड्ढे में डाल देते हैं। दूसरे वे हैं जिनके हृदय में बल अथवा निर्भयता नहीं होती। वे थोड़ा सा भय आने पर स्वयं भी गिरते हैं और दूसरों को भी गिराते हैं। अधिक संख्या तो ऐसे लोगों की है, जिनका मन स्वार्थ से भरा होता है। उत्साह में वे आगे चल पड़ते हैं, किंतु जल्दी ही स्वार्थवश होकर सब धर्म-कर्म को परे फेंक देते हैं। क्षत्रिय का धर्म है, जैसा मेजिनी ने एक जगह कहा है, 'जहाँ कहीं अन्याय देखो—चाहे वह पुरुष पर हो या स्त्री पर, काले पर या गोरे पर—अपनी आवाज तत्काल उसके विरुद्ध उठाओ और उस अन्याय को जड से उखाड़ने में लग जाओ।'

□

---

* शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्॥

दसवाँ परिच्छेद

राजयोग

सुख की खोज

प्राणी मनुष्य जन्म पाकर, कस्तूरीवाले हिरन की भाँति, आत्मा की सुगंध सी अनुभव करता है और जानते या न जानते हुए उसकी खोज में भटकता फिरता है। हिरन कस्तूरी की खुशबू को झाड़ियों में ढूँढ़ता है और प्राणी आत्मा की सुगंध को इंद्रियों के विषयों में। एक जगह प्रश्न उठाया है—जीव का स्वाभाविक स्वरूप सुख है या दुःख? अगर स्वाभाविक सुख हो तो दुःख अपने स्वरूप को भूल जाने से पैदा होता है और अगर दुःख स्वाभाविक हो तो उसे दूर करना तथा सुख को यत्नपूर्वक प्राप्त करना जरूरी है। जीवन के लक्षण में दुःख और सुख—दोनों पाए जाते हैं। भले ही एक से मनुष्य दूर भागता है और दूसरे को पाना चाहता है।

दुःख का कारण—अविद्या या अज्ञान

आर्य और बौद्ध दर्शन इसी एक बात की कल्पना करके शुरू होते हैं कि जीव सुख की खोज में लगा हुआ है; परंतु संसार में सबको दुःख ही दिखलाई देता है। इसका कारण ढूँढ़ते हुए सभी दर्शनकार एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। योग दर्शन तो वह कारण अविद्या बतलाता है। वेदांत उसे माया और सांख्य अविवेक कहता है। इस अविद्या या माया का कारण तृष्णा या विषय-वासना है, जिसमें जकड़ा हुआ मनुष्य भूला फिरता है। इस भूले हुए मनुष्य की स्थिति पर एक बड़े साँड़-बैल का दृष्टांत दिया गया है। साँड़ के गले में एक लंबी रस्सी है, जिसका दूसरा सिरा एक पेड़ से बँधा है। साँड़ खुली जमीन पर चरता है। उसका मुँह एक

तरफ है और वह घूमता हुआ चलता है . धीरे-धीरे वह रस्सी पेड़ के गिर्द लिपटकर छोटी होती जाती है। कुछ देर बाद वह सारी रस्सी इस तरह लिपट जाती है और साँड पेड़ के साथ जा लगता है। आगे जाना चाहता है, किंतु जाए तो कैसे? पेड़ के साथ बँधा हुआ वह सिर मारता है, गुस्से से जलता है; पर सब व्यर्थ। उसकी सारी मुसीबत उसके अज्ञान से है। उसे कोई राह दिखानेवाला मिल जाय और उसका मुँह दूसरी तरफ मोड़ दे तो उसका सारा कष्ट तत्काल मिट सकता है। हम भी इसी भाँति तृष्णा की रस्सी में बँधे हैं और अज्ञान में पड़े दु:ख उठाते हैं।

भगवद्गीता क्या कहती है?

भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक ३७[१], ३८[२], ३९[३] आदि में कहा गया है कि जिस प्रकार धुआँ आग को और धूल शीशे को ढाँप देते हैं उसी प्रकार यह तृष्णा आत्मा को ढाँपकर उसे अज्ञान में डाल देती है। इंद्रियों, मन और बुद्धि में बैठी हुई यह तृष्णा आत्मा पर परदा डाल देती है। अपनी इंद्रियों को काबू में लाकर मनुष्य को पहले इसका नाश करना चाहिए। श्लोक ४३[४] में कहा गया है, 'इस प्रकार आत्मा को और उसकी सहायता से इंद्रियों को रोककर इस शत्रु (तृष्णा) को वश में करना चाहिए।' अध्याय दो के श्लोक ६०[५], ६१[६], ६२[७], ६३[८], ६७[९] और

---

१ काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
२ धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
३ आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च॥
४ एवं बुद्धे: परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
५ यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित:।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:॥
६ तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
७ ध्यायतो विषयान्पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
८ क्रोधाद्भवति संमोह: संमोहात्स्मृतिविभ्रम:।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
९ इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

६८[1] मे बताया गया है ज्ञानी के मन को भी इद्रियाँ पकड लेती हैं इनको वश मे लाने से ही मनुष्य ध्यान कर सकता है विषयो का चितन करने से मनुष्य उनकी तरफ खिंच जाता है। इससे तृष्णा उत्पन्न होती है, तृष्णा से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से बुद्धि का विनाश होता है। बुद्धि न रहने से मनुष्य किसी काम का नहीं रहता। विषयी आदमी का मन वैसे ही डाँवाँडोल होता है, जैसे तूफान के कारण जहाज। इसलिए महाबाहु अर्जुन! तू इन इंद्रियों को विषयों से हटाकर अपने वश में ला।'

महाभारत का दृष्टांत

महाभारत के स्त्रीपर्व में विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा है—दुनिया एक बियाबान है। जीवन उसमें एक जंगल के समान है। बीमारियाँ इस जंगल में शेर, चीते, भेड़िए आदि हैं। बुढ़ापा मनुष्य के गले से चुड़ैल की तरह लटक रहा है। इनसे बचने के लिए मनुष्य भागता हुआ एक गहरी कंदरा के किनारे, अर्थात् शरीर में आ गिरता है। इस कंदरा में वह सिर नीचे करके लटक जाता है। कंदरा के किनारे पर बहुत सी झाड़ियाँ उगी हुई हैं (ये झाड़ियाँ विषय हैं)। पास में छह मुँह (अर्थात् छह ऋतु) और बारह टाँगों (अर्थात् बारह मास) वाला एक हाथी (अर्थात् वर्ष) मनुष्य को मारने के लिए खड़ा है। जिस शाखा के सहारे मनुष्य लटक रहा है उसे दो चूहे—एक सफेद और दूसरा काला (अर्थात् दिन और रात) काट रहे हैं। कंदरा के अंदर एक काला नाग (अर्थात् काल) मुँह खोले खड़ा है। इन झाड़ियों में शहद का एक छत्ता है, जिससे एक-एक बूँद शहद नीचे टपकता है। यह बूँद मनुष्य के मुँह में पड़ने पर उसे ऐसी मीठी लगती है कि वह सभी मुसीबतों और खतरों को भूल जाता है। यह बूँद तृष्णा को और भी बढ़ा देती है। प्यास के बढ़ने से पहले से ज्यादा दु:ख होने पर भी इस मिठास की आशा से वह शहद की ओर टकटकी लगाए रहता है। उसे जीने की लालसा बनी रहती है।

प्राप्ति के विभिन्न मार्ग

भगवद्गीता के अध्याय सात के श्लोक ३[2] में कहा गया है, 'हजारों में से कोई एक सिद्धि चाहता है। उनमें से कोई विरला ही यत्न करता है। यत्न करनेवालों

---

१ तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वश:।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

२ मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:॥

में से कोई ही मुझको जान सकता है क्यो ? अध्याय तेरह के श्लोक २७[1] मे कहा गया है, 'देखता वही है, जो समस्त संसार के अंतस्तल में एक सार को पहचानता है।' फिर भी अध्याय चार के श्लोक ११[2] में इस कठिनाई को यों दूर कर दिया गया है, 'मनुष्य जिस किसी मार्ग से आते हैं, मैं उनको उसी मार्ग से स्वीकार करता हूँ।'

उस तरफ जाने के कई मार्ग हैं। अध्याय तेरह के श्लोक २४[3] में बताया गया है, 'इस अज्ञान को दूर करने के कई तरीके हैं। कई लोग ध्यान से, कई कर्म से और कई ज्ञान से पहुँचते हैं। भक्ति-मार्ग इनके अतिरिक्त एक और तरीका है।'

इन चार बड़े मार्गों में से पहला मार्ग ध्यान का है। ध्यान करने का तरीका 'राजयोग' कहलाता है। भगवद्‌गीता के छठे अध्याय में राजयोग का सुंदर, संक्षिप्त वर्णन है। शुद्ध स्थान में आसन लगाकर व्यक्ति प्राणायाम करे और ध्यान करने का अभ्यास डाले। यम, नियम आदि आठ सीढ़ियों का विस्तृत वर्णन योगदर्शन में पाया जाता है।

मन की स्थिरता

ध्यान-योग में मन की एकाग्रता प्राप्त करना आवश्यक है। मन को स्थिर करना ध्यान है। आँखें बंद करके देखिए, मन किधर से किधर घूमता है। इसे घूमने से रोकने का यत्न कीजिए। आप जितना ज्यादा यत्न करेंगे उतना ही ज्यादा यह इधर-उधर दौड़ेगा। इसी से शरीर की समता उस रथ से की गई है, जिसके घोड़े इंद्रियाँ हैं, मन उनकी बाग है और आत्मा सारथि है। बाग काबू में रखने से घोड़े वश में रहते हैं। मन स्थिर होने पर काबू में आ सकता है। यही बात सबसे कठिन है। इसकी कठिनाई का अनुमान इससे लग सकता है कि अर्जुन जैसा एकाग्रचित्त मनुष्य योग की व्याख्या सुनकर प्रश्न करता है, 'मन को काबू में करना ऐसा ही है जैसे आँधी को बाँधना। इसको किस तरह वश में करना चाहिए?' अर्जुन की ध्यान शक्ति आचार्य द्रोण द्वारा ली गई परीक्षा से भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य ने सब शिष्यों को एकत्र करके उनसे कहा कि पेड़ पर बैठे हुए पक्षी

---

१ समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

२ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

३ ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

की आँख में तीर मारो। वे एक-एक को पास बुलाकर पूछते गए कि तुम क्या देखते हो। सबने जवाब में पक्षी या पेड़ की टहनी का नाम लिया। एक अर्जुन ही था जिसने कहा कि मुझे तो पेड़ पर बैठे पक्षी की आँख के सिवा और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता।

मन की चंचलता तथा अभ्यास और वैराग्य

जानवरों में बंदर सबसे अधिक चंचल है। वह एक पल भी चैन से नही बेठता। इसी से मन की तुलना बंदर से की गई है--ऐसे बंदर से, जो शराब पिए हो और जिसे बिच्छू ने काटा हो। मनुष्य में अभिमान और ईर्ष्या ही हैं क्रमशः उक्त शराब और बिच्छू। भगवद्गीता में अर्जुन को बताया गया है, 'यद्यपि मन बड़ा बलवान् है, फिर भी अभ्यास और वैराग्य से यह काबू में आ सकता है।'

इस विषय में असंभव मालूम देनेवाली कुछ बातें अभ्यास से संभव हो जाती हैं। सर्कस में बंदर, हाथी आदि अभ्यास के कारण ही कैसे आश्चर्यजनक खेल करते हैं। मनुष्य अभ्यास के द्वारा आँखें बंद करके मात्र आवाज के ऊपर निशाना लगा सकता है। शारीरिक अभ्यास करने से दुबला-पतला आदमी भी पहलवान बन सकता है। योगी लोग शरीर को ऐसा बना लेते हैं कि केवल वायु पर जीवित रह सकते हैं। मन के अभ्यास का अर्थ है—'उसे सब ओर से हटाकर किसी विशेष वस्तु या विचार पर लगाना।' मन को अन्य चीजों से हटाने का माध्यम वैराग्य है। इस काम में सत्संग और धर्मोपदेश सहायक हैं, क्योंकि इस प्रकार संसार'''का ध्यान आता है और विषय-वासना कम होती है। भगवद्गीता में कहा गया है, 'विषयों का ध्यान करने से काम पैदा होता है, काम से क्रोध, क्रोध से मोह उत्पन्न होता है, मोह से स्मृति जाती रहती है, बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि समाप्त हो जाने पर मनुष्य नष्ट हो जाता है।' गोस्वामी तुलसीदास ने भी एक जगह इसी बात को कहा है--

> जा कहँ प्रभु दारुन दुख देहीं।
> ताकर मति पहले हरि लेहीं॥

यदि मनुष्य पाप करता है तो ईश्वर उसकी अक्ल को मार देता है। यदि कोई व्यक्ति पाप करता है तो ईश्वर आकर उसे थप्पड़ नहीं लगाता, न उसे हथकड़ी-बेड़ी डालता है। वह तो बस, उसकी बुद्धि को मार देता है। पापी की मौत पाप-कर्म करने में ही होती है, ऊपर कहीं से नहीं आती।

इद्रियो के वश मे होकर मन विषयो के अधीन रहता है। विषयो की हवा उसे बुलाती रहती है और शांत नहीं होने देती। भगवद्गीता के अध्याय छह के श्लोक १८[१], १९[२] और २०[३] में बताया गया है, 'एकाग्रचित्त मनुष्य उस ज्योति के समान है, जो हवा से सर्वथा सुरक्षित गति-रहित जलती है। मन भी शांत होकर आत्मा को अपने अंदर देख सकता है।'

प्राणायाम और ध्यान

भगवद्गीता के अध्याय छह के श्लोक १२[४] और १३[५] में कहा गया है, 'प्राणायाम मन को स्थिर करने में सहायता देता है। प्राणायाम का उद्देश्य साँस को बाकायदा बनाना और साथ ही लंबा करने की शक्ति पैदा करना है।' अनुभव से सिद्ध है कि श्वास की नियमितता का नाड़ियों की मजबूती से विशेष संबंध है और इनके सबल होने से मन की स्थिरता असाधारण रूप से बढ़ जाती है। अध्याय चार के आरंभिक श्लोकों में यज्ञ का उल्लेख करके २६[६]वें और २७[७]वें श्लोको में इद्रियों को अपने अंदर डालने को भी 'यज्ञ' कहा गया है। इंद्रियों के ये यज्ञ नाक, कान, आँख आदि के द्वारा किए जा सकते हैं। आम बात है कि किस प्रकार सम्मोहन करनेवाले आदमी एक काला दाग बनाकर आँख झपकाए बगैर उसकी तरफ देखते रहने का अभ्यास करते हैं। इससे उनकी दृष्टि में दूसरों पर प्रभाव डालने की शक्ति आ जाती है।

---

१ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

२. यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

३ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥

४ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥

५ समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

६ श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

७ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

तप के साधन

भगवद्गीता के अध्याय दो के श्लोक ५८[१], ५९[२] और ६४[३] में कहा गया है, 'जब मनुष्य मन को उसी प्रकार इंद्रियों से पीछे हटा लेता है जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, तब विषय-वासना धीरे-धीरे कम होने लगती है। अंत में वासना का विचार मन से उड़ जाता है। तभी आत्मा का दर्शन होता है।' आगे बताया गया है, 'इंद्रियों को निराहार या भूखा रखने से विषयों से पीछा छूट सकता है। इंद्रियों को व्रत में रखना बड़ा भारी तप है।' यम और नियम इसके बड़े साधन हैं। यम पाँच हैं, जिनका संबंध समाज से है। इनके बिना समाज चल नहीं सकता। यम ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह न करना)।

नियम भी पाँच हैं, जिनका संबंध मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से है। इन पर न चलने से दूसरों को कोई हानि नहीं होती, परंतु आदमी खुद अयोग्य बन जाता है। नियम ये हैं—शौच (शरीर तथा मन की शुद्धि), संतोष, तप, स्वाध्याय और प्रणिधान (परमात्मा में विश्वास रखना)।

जीवन का एक भाग, वानप्रस्थ आश्रम, इसलिए भी अलग किया गया कि मनुष्य ध्यान-मार्ग पर सफलतापूर्वक चलने के लिए एक समय तक संसार और उसके लोगों से परहेज रखे। यह आश्रम अपने आपको तैयार करने के लिए है, ताकि इनको जीतने की शक्ति उत्पन्न हो जाय। यदि वानप्रस्थ आश्रम में रहकर भी आदमी का मन विषयों का चिंतन करता है तो—भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक ६[४] के अनुसार—वह मूढ़ और ठग है।

ध्यान की अवस्था

ध्यान के समय यहं देखना कि चित्त किधर जाता है, कौन सी वस्तु उसके लिए आकर्षण है और फिर इस आकर्षण को तोड़कर चित्त को उधर से हटाना, यह

---

१ यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

२ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

३ रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

४ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

ात्याहार कहलाता है इससे आगे चित्त की एकाग्रता है इससे मनुष्य ध्यान पर पहुँचता है। ध्यान से वह समाधि में प्रवेश करता है। तब आत्मा अपने ही अंदर मग्न हो जाती है। ऐसे मन की अवस्था जल से अलिप्त कमल के पत्ते जैसी हो जाती है।

ध्यानी मनुष्य संसार की चीजों को देखता और सुनता है; परंतु उसका मन इंद्रियों से परे रहता है। जिस मनुष्य ने मन को जीत लिया, उसने समस्त जगत् पर विजय पा ली है। जो मनुष्य अपने मन का मालिक है, वह समस्त ब्रह्मांड का मालिक है।

□

ग्यारहवाँ परिच्छेद

ज्ञान-मार्ग

अज्ञान की अवस्था

दूसरा मार्ग अज्ञान दूर करके ज्ञान प्राप्त करना है। अज्ञान में फँसा हुआ जीव दुःख उठाता है। किसी वस्तु को गलत या उलटा समझना अज्ञान है। पशुओं में इसके कई उदाहरण मिलते हैं। गधे में हद दरजे का अज्ञान पाया जाता है। तोता भी अज्ञान के वशीभूत हो दुःख उठाता है। इसको पकड़ने का विचित्र सा फंदा बनाया जाता है। छड़ी के एक सिरे से धागा बाँधकर उसे वृक्ष की टहनी से बाँध दिया जाता है। ज्यों ही तोता उस पर आकर बैठता है त्यों ही छड़ी का सिरा झुक जाता है। तोता छडी को ज्यादा जोर से पकड़ता है। वह सिरा और भी नीचे हो जाता है। इस पर तोता पहले से भी ज्यादा मजबूती के साथ उसको पकड़ता है। यह विचार उसके मन में बैठ जाता है कि पंजे मजबूत करने से जान बच जाएगी। बस, इसी हालत में शिकारी उसे आसानी से पकड़ लेता है।

मनुष्य के लिए भ्रमजाल

पशु की तरह मनुष्य की भी दशा है। पग-पग पर ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं, जो उसे अज्ञान में डाल देती हैं। एक यात्री को तालाब के अंदर मणि चमकती नजर आई। पानी खूब साफ था। उसने कपड़े उतार दिए और मणि निकालने के लिए गोता मारने लगा। वह उसे आँखों से देखता था, परंतु हाथ से पकड़ नहीं पाता था। बार-बार कोशिश करने के बाद वह थककर जमीन पर लेट गया। एक संत वहाँ पहुँचे। उन्होंने उसका हाल पूछा। उसके बताने पर उन्होंने कहा,

वृक्ष के ऊपर देखो चोटी पर एक पछी बैठा है, जिसके मुह मे मणि है . मणि की चमक पानी में पड़ती है। इसी ने तुमको हैरान कर रखा है।'

अज्ञान का कारण—तृष्णा

भर्तृहरि ने कहा है, 'काल नहीं खत्म होता, हम गुजर जाते हैं। भोग नहीं भोगे जाते, हमीं भोगे जाते हैं। तृष्णा नहीं मिटती, हम मिट जाते हैं।'* भगवद्गीता में बताया गया है, 'यह तृष्णा हमारे सारे अज्ञान का मूल कारण है। यह हमारी आत्मा पर परदा डाल देती है। तृष्णा की तृप्ति कभी नहीं हो सकती।' आग में घी डालने से वह और भी जोर से भड़कती है। तृष्णा की अग्नि में भोग डालने से वह और ज्यादा चमकती है। यह आग जितनी ज्यादा भड़कती है, दुःख उतना ही ज्यादा बढ़ता है।

जर्मन दार्शनिक शॉपनहावर ने बड़े संक्षिप्त रूप से सुख को उस भिन्न मे प्रकट किया है, जिसका अंश भोग और भाजक भोगों की इच्छा है। अंश के अधिक और भाजक के कम होने से सुख बढ़ता है, इसके विपरीत होने पर दुःख बढ़ता है। वह बताता है कि हमारे भोग तो व्यक्ति श्रेणी के नियम के अनुसार बढ़ते हैं (५ को २ से गुणा करना, फिर ४ को ३ से गुणा करना, फिर ८ को २ से गुणा करना इत्यादि—इसे व्यक्त श्रेणी कहा जाता है।); परंतु हमारी इच्छाएँ गुणोत्तर श्रेणी के नियम से बढ़ाती हैं। (२ को २ से गुणा करना, फिर ४ को ४ से गुणा करना, फिर १६ को १६ से गुणा करना इत्यादि गुणोत्तर श्रेणी कहलाती है।) तात्पर्य यह है कि हम जितने ज्यादा भोग भोगते हैं उतने गुना ज्यादा हमारी इच्छाएँ बढ़ जाती हैं।

कार्लाइल ने इस भिन्न से एक अन्य गहरा मतलब निकाला है। गणित का नियम है कि अंश कुछ भी हो, यदि किसी भिन्न के भाजक को शून्य कर दिया जाय तो उसका मूल्य निस्सीम हो जाता है। इसी प्रकार सुख के इस भिन्न में विभाजक को शून्य कर दीजिए, अर्थात् इच्छाओं या तृष्णा को बिलकुल मिटा दीजिए, बस, सुख निस्सीम हो जाएगा।

आवश्यकताएँ और भौतिक उन्नति

इस सिद्धांत पर यह आपत्ति की जा सकती है, 'आवश्यकताओं को कम

---

* भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥ *(वैराग्यशतकम्, १२)*

कर देना गलत बात है। इससे आदमी सुस्त हो जाता है। इसके विपरीत [illegible] ओं की संख्या बढ़ाने के आनंद की मात्रा बढ़ती है। फैलाव होना चाहिए, न कि सिकुड़ाव। पंजाब के एक रेलवे स्टेशन पर सर्दी के मौसम में तड़के सवेरे एक गरीब यात्री बैठा था। उसके शरीर पर कोई कपड़ा नहीं था। उसे सर्दी लग रही थी। वह अपने शरीर को सिकोड़ता चला जाता था। एक सज्जन ने उसकी ओर इशारा करके कहा, 'यह आवश्यकताओं के संबंध में सिकुड़ाव के सिद्धांत को प्रकट करता है।'

भौतिक उन्नति करने की ओर संसार के लोगों का स्वाभाविक झुकाव रहता है। यहाँ तक कि वह भौतिक उत्कर्ष ही अपकर्ष उत्पन्न करता है। लोगों को यह उपदेश करने की जरूरत ही नहीं कि वे अपनी इच्छाओं को बढ़ाकर भोगों की वृद्धि करें। ऐसा करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति तो हर एक मनुष्य की होती है। दर्शन का काम है लोगों को वास्तविकता का ज्ञान कराना। यह बात दूसरी है कि उसके सुनने, समझने और उस पर आचरण करने के लिए कोई विरला ही तैयार होता है।

इस बात का अनुभव करना मुश्किल है कि अज्ञान में रहनेवाला मनुष्य दुःख के गड्ढे में पड़ा रहता है। यह अनुभूति होने के बाद मनुष्य उस अवस्था को बदलना चाहता है। तब वह मार्ग ढूँढ़ता है और कोई पथ-प्रदर्शक चाहता है। भगवद्गीता के अध्याय चार के श्लोक ३३[१] और ३४[२] में बताया गया है, 'गुरु की खोज करने के बाद उसकी सेवा कर उससे ज्ञान-धन प्राप्त करो। वही इसकी प्राप्ति के वे आवश्यक साधन और तप बताएगा, जिनके बगैर ज्ञान की उपलब्धि कठिन है।'

ज्ञान-प्राप्ति और अधिकारी

गुरु के लिए पहले यह सोचना जरूरी होता है कि जिज्ञासु किस दरजे के ज्ञान का पात्र है। जब एक व्यक्ति जिज्ञासु गुरु के पास जाता था तब गुरु उसे कोई खास तप करने को बताता और कहता कि इसके छह मास या साल भर के बाद आना। इस प्रकार गुरु को यह मालूम हो जाता कि वह सचमुच ज्ञान का इच्छुक है या नहीं। इसके अतिरिक्त तप के द्वारा उसकी अन्य इच्छाओं को दबाना भी एक उद्देश्य होता था।

---

१ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
२ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक २६[१], २७[२] और २९[३] में कहा गया है, 'मूर्ख को ज्ञान कभी नहीं देना चाहिए। संसार के साथ उसका प्रेम हिला देने का परिणाम अच्छा न होगा।' इस पर आपत्ति की जा सकती है कि यह तो एक प्रकार का झूठ और लोगों को धोखा देने के बराबर है। यहाँ आपत्ति करनेवाले भूल करते हैं। वह यह नहीं समझते कि मूर्ख वह है, जिसके मन में ज्ञान की इच्छा उत्पन्न न हुई हो। जिसे इच्छा ही नहीं, उसे ज्ञान की बात बताना व्यर्थ है। इसके विपरीत, वह तो ज्ञानोपदेश के अनुसार आचरण कर ही नहीं सकेगा।

इच्छा और बुद्धि

साधारण और मोटी बातें लोगों को भली मालूम देती हैं। संभवतः इसी से कहानियों की किताबें अधिक बिकती हैं। गूढ़ विषय पर व्याख्यान हो तो लोग थोड़ी देर के बाद धीरे-धीरे उठकर खिसकने लगते हैं। गंभीर और विचारणीय पुस्तक को बहुत कम लोग पढ़ना चाहते हैं।

जैसे निम्न कक्षा का विद्यार्थी ऊँची शिक्षा की पुस्तकों से आनंद नहीं उठा सकता और छोटी आयु का बच्चा विषय-भोग के सुख को नहीं समझ सकता, वैसे ही मूढ़ के लिए बात समझना मुश्किल होता है।

ज्ञान-प्राप्ति का तरीका

भगवद्गीता के अध्याय पाँच के श्लोक २६[४] में कहा गया है, 'वही योगी, जिसने तृष्णा को मारकर मन को अपने काबू में कर लिया है, ब्रह्म आनंद को प्राप्त कर सकता है। इस मन को वश में करने का एक तरीक़ा तो-राजयोग है। मन-पर किस प्रकार का काबू पाया जा सकता है, यह अष्टावक्र के उदाहरण से प्रकट होता है। राजा जनक ने इच्छा प्रकट की कि उन्हें कोई ऐसा गुरु मिले, जो क्षण भर में ज्ञान का मार्ग दिखला दे। भरी सभा में एक भी ऐसा मनुष्य नहीं निकला। यह सुनकर

---

१ न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

२ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥

३ प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

४ कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

अष्टावक्र वहाँ पहुँचे। उनके टेढ़े शरीर को देखकर सभा के कुछ सदस्य हँस पड़े। इस पर अष्टावक्र ने कहा, 'क्या यह चमारों की सभा है, जो चमड़े को परखना चाहती है?' सब लोग शर्म के मारे चुप हो गए। अष्टावक्र से भी वही प्रश्न किया गया, 'क्या आप क्षण भर में ज्ञान का मार्ग दिखला सकते हैं?' अष्टावक्र ने उत्तर दिया, 'पहले गुरुदक्षिणा मिले तब बताऊँगा।' इस पर जनक ने कोष और राज्य की ओर इशारा किया। अष्टावक्र ने कहा, 'इनमें आपका क्या है? आपसे पहले इनके कई मालिक थे।' जनक ने अपने बाल-बच्चों की ओर संकेत किया तो अष्टावक्र बोले, 'ये सब तो अपनी-अपनी आत्मा रखते हैं; ये आपके नहीं हैं।' जनक ने कहा, 'मन मेरा है। यह आपको अर्पण है।' यह सुनकर अष्टावक्र वहाँ से चल दिए। इससे जनक को क्रोध आया कि ये कुछ बताए बिना ही चल दिए। सोचने पर खयाल आया, 'क्रोध तो मन में उत्पन्न होता है और मन मेरा है नहीं, फिर अष्टावक्र पर क्रोध कैसा?' इस प्रकार वहाँ खड़े-खड़े जनक विचार में पड़ गए और उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया।

ज्ञान का आनंद और वाणी

भगवद्गीता का दूसरा अध्याय आत्मिक ज्ञान का समुद्र है। इसके श्लोक ७०[१] में कहा गया है, 'ज्ञानी का मन समुद्र के अंतस्तल की तरह शांत हो जाता है। समुद्र में नदियाँ गिरती हैं, तूफान आते हैं; परंतु उसका तल ज्यों-का-त्यों अचल और शांत रहता है।' अध्याय पाँच के श्लोक २४[२] और २५[३] में बताया गया है, 'जो योगी अपने आंतरिक आनंद को प्राप्त कर लेता है, वह इस जन्म में ही मुक्ति का आनंद प्राप्त कर लेता है। इस जन्म में वह जनक के समान जीवन्मुक्त हो जाता है।'

यह आनंद केवल स्व-संवेद्य है। इसका अनुभव वही करता है, जिसमे अनुभव करने की शक्ति होती है। उपनिषद्[४] में कहा गया है, 'उसके मन की घुंडियाँ खुल जाती हैं, संशय मिट जाते हैं, कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह आत्मा के

---

१ आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

२ योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

३ लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

४ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ *(मुंडकोपनिषद्, २/२/८)*

स्वरूप को देखने लगता है।'

भगवद्गीता के अध्याय सात के श्लोक २[1] में कहा गया है, 'यह वह ज्ञान है, जिसे प्राप्त करने के बाद और कुछ जानना शेष नहीं रहता।' लोग पूछते हैं, 'ऐसे ज्ञान से हमें क्या लाभ होगा? या इससे हमें कौन सा सुख मिलेगा?' यह सवाल ऐसा ही है जैसे पिता से बेटे का यह पूछना कि 'यदि मैं विद्या-लाभ करूँगा तो क्या इससे मुझे खिलौने मिलेंगे?' गीता के अध्याय पाँच के श्लोक १६[2] में कहा गया है, 'यह ज्ञान ज्ञानी के हृदय को सूर्य के समान प्रकाशमय कर देता है।' पहाड़ की चोटी पर चढ़कर देखने से बादल अकसर पाँव के तले मालूम पड़ते हैं और नीचे बरसात होने पर भी सूर्य सिर पर चमक रहा होता है। इसी प्रकार संसार के सभी बादल ज्ञान के पाँव तले रह जाते हैं; उसके ऊपर हमेशा ज्ञान का सूर्य चमकता है।

जीवन्मुक्त और सांसारिक काम-काज

ऐसा मनुष्य शरीर धारण करते हुए भी मुक्त हो जाता है। पतिव्रता हिंदू नारी घर का सब कामकाज करती हैं, परंतु उसका चित्त हर समय अपने पति के प्रेम में मग्न रहता है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त होने का दृष्टांत दिया जाता है। (भगवद्गीता में उनको जीवन्मुक्त होने का नमूना बताया गया है।) एक संन्यासी ने जनक के पास जाकर अपना संशय प्रकट किया, 'आपको लोग जीवन्मुक्त क्यों कहते हैं? आप तो ससार में लिप्त हैं।' जनक ने राजप्रासाद के अंदर ही संन्यासी को रहने के लिए जगह दे दी। अचानक एक दिन थोड़े फासले पर ही आग लग गई। सिपाही दौड़े-दौड़े आए। उन्होंने राजा को खबर दी, जो उस समय उक्त संन्यासी के पास बैठे थे। राजा ने आग को बुझाने का आदेश दिया। फिर खबर आई, आग तो महल के पास आ पहुँची है। यह सुनते ही संन्यासी उठा और बोला, 'मेरी लँगोटी और लोटा पड़ा है। उनको लेने जा रहा हूँ।' इस पर जनक ने संन्यासी को समझाया कि तुम्हारा मन लँगोटी और लोटे के अंदर फँसा है। इसी से इतनी घबराहट पैदा हुई।

□

---

१ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

२ ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

बारहवाँ परिच्छेद

भक्ति-मार्ग

जनसाधारण का मार्ग—भक्ति

भगवद्‌गीता के अध्याय बारह के श्लोक ६[१], ७[२], ८[३] और १४[४] आदि में तथा अध्याय अठारह के श्लोक ६५[५] एवं ६६[६] में और अन्य कई स्थानों में कहा गया है, 'तुम मेरी शरण में आओ। मेरा प्रेम ऐसा है कि मेरी शरण में आने से तुम सभी क्लेशों से बच जाओगे।' बारहवें अध्याय के प्रारंभ में प्रश्न उठाया गया है, 'आप तक कौन सा मार्ग आसानी से पहुँचाता है?' श्लोक ५[७], ६[८] और ७[९] में उत्तर

---

१. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
२. तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
३. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
४. संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
५. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
६. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
७. क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
८. देखिए पाद टिप्पणी १।
९. देखिए पाद टिप्पणी २।

दिया गया है, 'जो सब कर्म मुझ पर छोड़ देते हैं और अनन्य भक्ति से मेरे पास आते हैं, उन्हें मैं मृत्यु के समुद्र से जल्दी पार करवा देता हूँ।'

ज्ञान और ध्यान—ये दो मार्ग बहुत थोड़े मनुष्यों के लिए हैं। आम लोगों के लिए भक्ति और कर्म के मार्ग हैं। इन दोनों रास्तों पर चलना अपेक्षाकृत आसान है। प्रेम और भक्ति का भाव स्वभावत: हर मनुष्य के अंदर पाया जाता है। स्वार्थ एक ओर चलता है, प्रेम दूसरी ओर। ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता है त्यों-त्यों आदमी सांसारिकता को भूलता जाता है। किसी मनुष्य में जब यह भाव पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है तब उसके लिए शेष संसार का कोई अस्तित्व नहीं रहता। आमतौर पर प्रेम मनुष्य में काम-भाव के रूप में पाया जाता है; परंतु विचार और सुसंगति से उसका रूप भक्ति और आध्यात्मिक प्रेम में बदल जाता है। तुलसीदास, सूरदास आदि इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार बहुत सी युवतियाँ भिक्षुणियाँ बन जाती हैं।

मजनू का किस्सा सब लोग जानते हैं। कहा जाता है कि वह लैला के ऊँट के पीछे-पीछे जा रहा था। हवा से लैला का कपड़ा हिला तो उसने समझा कि उसे ठहर जाने का इशारा किया गया है। वह वहीं खड़ा हो गया और भूखा-प्यासा देर तक खड़ा रहा। यहाँ तक कि उसके शरीर में हड्डियाँ मात्र रह गईं और आस-पास बड़ी-बड़ी घास बढ़ जाने से वह पूरी तरह ढक गया। वह सिर्फ लैला को याद करता था और उसे कुछ दिखाई नहीं देता था। एक शेर में उसके प्रेम का वर्णन यहाँ तक किया है कि जब उसे यह कहा गया कि तुमको प्रभु ने बुलाया है, तो उसका उत्तर स्पष्ट था—

'अगर अल्लाह ने मिलना हो
तो लैला बन के आ जाय!'

नेता से प्रेम

भक्ति का एक रूप साधारण सभा-समाजों, मज़हबी आंदोलनों और दल संगठनों में पाया जाता है। मनुष्य प्राय: अपने नेता पर इतना प्रेम और विश्वास करते हैं कि वे उसके लिए सबकुछ करने हेतु तैयार हो जाते हैं। हर एक आदमी अपनी प्रकृति के अनुसार किसी विशेष व्यक्ति को अपना नेता मान लेता है और उसके कामों को अपना काम और उसकी राय को अपनी राय बना लेता है। दूसरे शब्दों में, जनसाधारण अपने नेता के अस्तित्व में अपने अस्तित्व को भुला देते हैं।

साधारण लोगों में इस प्रकार का भाव प्रशंसनीय है; परंतु भारत में कुछ चालाक आदमियों ने मज़हबी तौर पर इसका गर्हणीय प्रयोग किया है। एक दल को

अपना भक्त बनाकर उसके अंदर दासत्व उत्पन्न कर देना नीच कर्म है यहाँ के कुछ धूर्त कहते है, ईश्वर मेरा मित्र है; मैं उससे प्रतिदिन बाते करता हू। इसलिए मेरी बात को तुम अक्षरश: मानो।' कुछ समय बाद वे एक नया तमाशा रच लेते हैं, 'ईश्वर का तो संसार में कोई अस्तित्व ही नहीं है; मैं ही ईश्वर हूँ। मेरी ही पूजा किया करो।' लेकिन यूरोप और अमेरिका के समाज ऐसे मूर्खों से नहीं बने हैं कि वहाँ ऐसे पाखंड चल सकें। न ही वे ऐसे गिरे हुए हैं कि उनमें ऐसे नीच कर्म करनेवाले आदमी पैदा हों। वहाँ के नेता अपने-अपने दल का भला चाहते हैं और उनके पीछे चलनेवालों की यही बड़ी कुर्बानी है कि अपने नेताओं की भक्ति और प्रेम में निस्स्वार्थ भाव का उदाहरण स्थापित करते हैं।

परमात्मा किससे प्रेम करता है?

मत्सीनी का कहना है कि भावी युग का मज़हब मानवता होगा। इसका उद्देश्य इस बात का प्रचार होगा कि परमात्मा की दृष्टि से प्रेम करो और दूसरो के सुख समझो। परमात्मा तुमसे यह नहीं पूछेगा कि तुमने मेरे लिए क्या किया, बल्कि यह कि तुमने अपने भाइयों के लिए क्या किया। दूसरों के उपकारार्थ काम करना ही सबसे बड़ी ईश्वर-पूजा है।

यों तो प्राय: सभी लोग परमात्मा से प्यार करते हैं, परंतु गीता के बारहवें अध्याय के श्लोक १२[१], १३[२] और १४[३] आदि में बताया गया है कि 'जो सब प्राणियों के लिए मित्रता और करुणा का भाव रखता है, ममता और अहंकार से रहित होता है, सुख-दु:ख को बराबर समझता है, सदा धैर्य से काम लेता है और मन तथा बुद्धि मुझे अर्पित कर देता है वह मुझको सबसे प्रिय है।'

अबू बिन आदम की कहानी प्रसिद्ध है कि वह दिन-रात अपना समय मनुष्य की सेवा में बिताया करता था। एक रात उसे फरिश्ता नजर आया। उसके हाथ में एक सूची थी। पूछने पर उस देवदूत ने बताया कि इसमें उन लोगों के नाम हैं, जो प्रभु से प्यार करते हैं। अबू ने पूछा, 'क्या मेरा नाम इसमें है?' उत्तर मिला, 'नहीं।' वह कुछ दिन बहुत हैरान रहा कि यह क्या, मेरा काम तो प्रभु की प्रजा की सेवा

---

१ श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

२ अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च।
निर्ममो निरहंकार: समदु:खसुख: क्षमी॥

३ देखिए पाद टिप्पणी ४, पृ. १२४।

है और मेरा नाम अभी तक इस सूची में नहीं आया। फिर एक रात वही देवदूत उसे दोबारा दिखाई दिया। अब उसके हाथ में एक दूसरी सूची थी। अबू ने पूछा कि यह सूची किन लोगों की है? जवाब मिला कि यह उन लोगों की है जिनको प्रभु प्यार करता है। अबू ने देखा तो उसका नाम सबसे ऊपर था।

भगवद्गीता के अध्याय छह के श्लोक ३०* में कहा गया है, 'जो मनुष्य मेरे अंदर सभी प्राणियों को और सभी प्राणियों में मुझको देखता है, वह मुझसे कभी पृथक् नहीं होता। जिसका किसी से कोई वैर नहीं, वही मेरा सच्चा भक्त है।'

इस श्लोक की तरह कई अन्य स्थानों, उदाहरणार्थ—अध्याय ग्यारह में भी श्रीकृष्ण कहते हैं, 'मैं ही संसार की आत्मा हूँ।' लोगों को यह पहेली समझने में बडी मुश्किल होती है कि एक मनुष्य संसार की आत्मा क्यों बन सकता है। इसको समझने के लिए हम एक दृष्टांत लेते हैं। मनुष्य की आत्मा को हम एक सूक्ष्म बिंदु मान लेते हैं। साधारण अवस्था में हर मनुष्य अपनी आत्मा को शरीर से सीमित समझता है। वह मनुष्य जो कुछ करता है, अपने शरीर के लिए ही। जब मनुष्य इससे उन्नत होकर अगली अवस्था में जाता है, तब वह अपनी आत्मा (सेल्फ) को फैलाकर अपने परिवार तक ले जाता है। इस अवस्था में वह परिवार को ही सबकुछ समझता है। मनुष्य की उन्नति का अगला दरजा वह है, जिसमें बिरादरी के अंदर वह अपनी आत्मा फैला देता है। इस प्रकार वह बिंदु फैलते-फैलते परिवार से कुल तक पहुँच जाता है। आत्मा के फैलाव का अगला क्षेत्र जाति है। जो लोग जाति के लिए जीते और मरते हैं, वे जाति में ही अपनी आत्मा देखते हैं। ऐसे मनुष्य देश और जाति या राष्ट्र के लिए हर प्रकार का त्याग करते हैं। मनुष्य की उन्नति एक दरजा और बाकी है। तब मनुष्य प्राणिमात्र के अंदर अपनी आत्मा को फैला हुआ देखता है। यह वह अवस्था है, जहाँ पर पहुँचकर मनुष्य का स्वार्थ और परमार्थ एक हो जाते हैं। उसकी आत्मा समस्त संसार की आत्मा हो जाती है और वह उन्नत आत्मा समस्त ब्रह्मांड की आत्मा के साथ एक हो जाती है। भगवान् कृष्ण की आत्मा इस उन्नत अवस्था में थी। इसीलिए वे अपने आपको सारे ब्रह्मांड की आत्मा कह सकते थे।

पूजा का अर्थ

सामान्य मतों के अनुयायी परमात्मा को ऊपर आसमान में स्थित सत्ता मानकर उसकी प्रशंसा करते हैं। उससे अपने लिए दुआएँ माँगते हैं। किंतु न वह

---

* यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

इन ताराफों से खुश होता है, न उसे इनकी कुछ जरूरत है और न वह माँगने से कुछ देता है।

परमात्मा की भक्ति की तीन श्रेणियाँ हैं—स्तुति, प्रार्थना और उपासना। जिस प्रकार हम किसी भव्य भवन या अद्‌भुत शक्तिवाले मनुष्य को देखकर चकित होते हैं और हमारे अंदर उसके लिए प्रशंसा-भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार परमात्मा को समस्त ब्रह्मांड में काम करता हुआ देखकर हमारे मन में स्तुति का भाव उत्पन्न होता है। किसी विचित्र गुण को देखकर हमारे अंदर उस गुण को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। परमात्मा को और अधिक जानने की इच्छा का नाम प्रार्थना है, 'हमारी बुद्धि तीक्ष्ण हो और हम आपको और ज्यादा जान सकें।' दिन-प्रतिदिन अधिक अध्ययन करता हुआ बच्चा अधिक ज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा करते-करते वह गुरु के अधिक निकट हो जाता है। इसे 'उपासना' कहते हैं। ऐसा ज्ञान व बुद्धि होने से हमारी परमात्मा के साथ निकटता या उपासना होती है।

हम उसी शक्ति को ब्रह्मांड में देखते हैं जिसे अपने अंदर काम करते पाते हैं। इस सच्ची उपासना से हमें सभी प्राणियों के अंदर परमात्मा की शक्ति नजर आती है। परमात्मा की संगति में हम उस लोहे के समान होते हैं, जो चुंबक के साथ लगने से चुबक हो जाता है। एक कवि की कल्पना है—'सिवा बाँस के—क्योंकि यह अभिमानी सीधे ऊँचा-ही-ऊँचा चला जाता है और अंदर से खोखला होता है—जो भी वृक्ष चंदन के पास होता है, वह चंदन के समान सुगंधित हो जाता है।' नमक की खान में पड़ी कोई चीज नमक ही बन जाती है। यह भक्ति वह पारस है, जिसके स्पर्श से पत्थर सोना हो जाता है। भगवद्‌गीता के अध्याय चार के श्लोक ३६[1] में कहा गया है, 'उसको प्राप्त करने के बाद बड़े-से-बड़ा पापी भी पाप के समुद्र से पार हो जाता है।'

भक्ति और मूर्ति

भगवद्‌गीता के अध्याय सात के श्लोक २१[2], २२[3] और २३[4] बतलाते हैं,

---

१ अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

२ यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

३ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

४ अन्तवत्त फल तषा तद्भवत्यल्पमधसाम।
देवान्देवयजो यान्ति मद्‌भक्ता यान्ति मामपि॥

'जो जिस देवता की पूजा करता है, उसी में मैं उसकी श्रद्धा पूरी करता हूँ। वह उस देवता से फल प्राप्त करता है, परंतु वास्तव में फल देनेवाला मैं हूँ। थोड़ी समझवाले लोग देवताओं की पूजा करते हुए उन तक पहुँचते हैं। मेरे भक्त मुझको पाते हैं।' अल्पबुद्धि लोग इन श्लोकों में मूर्तिपूजा की सिद्धि ढूँढ़ते हैं। भगवद्गीता में देव का अर्थ ज्ञान, विद्या, वीरता आदि गुण हैं; जैसा अध्याय चार के श्लोक १२[१] से प्रकट होता है। 'मेरे' शब्द का अर्थ 'आत्मा का' है। जिस अर्थ में मूर्तिपूजा आजकल भारत में समझी जाती है, उसका विचार भी भगवद्गीता में नहीं मिलता। यदि मूर्ति के अंदर हमें कोई गुण दिखलाई नहीं देता और न हमको यह ज्ञात है कि जिसकी यह मूर्ति है, उसके क्या गुण हैं, तो उस मूर्ति से भक्तिभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है? और यदि हमको किसी देवता के गुणों का वास्तविक ज्ञान है तो उसकी मूर्ति बनाकर रखना या न रखना बराबर है। भगवद्गीता के अध्याय नौ के श्लोक २६[२] २७[३], २८[४] और २९[५] में कहा गया है, 'यदि कोई मनुष्य प्रेम से एक पत्ता भी मुझे भेंट करता है तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार करता हूँ। यों तो सभी प्रिय हैं, परंतु जो मनुष्य मुझसे प्रेम करता है, वह मुझमें मिल जाता है। तब मैं उसमें होता हूँ और वह मुझमें होता है।'

आत्मा का विस्तार ही प्रेम की जड़ है

प्रेम वास्तव में क्या है? 'ऐतरेय उपनिषद्' में इसका सुंदर विवेचन है। ऋषि पूछता है, 'माता को पुत्र और पुत्र को माता क्यों प्रिय है? पत्नी को पति तथा पति को पत्नी क्यों प्रिय है?' आगे चलकर उत्तर दिया है, 'पुत्र होने के कारण लड़का माता को प्यारा नहीं, बल्कि आत्मा के कारण। पत्नी पत्नी के कारण प्यारी नहीं है,

---

१ काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

२ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

३ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

४ शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

५ समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

बल्कि आत्मा के कारण [1] यो स्त्री पुत्र और पिता अगणित हैं परतु हम उनमे से एक को इसलिए प्यार करते हैं कि हमारी आत्मा का संबंध उससे है। कोई मनुष्य दूसरे आदमी को उसकी खातिर प्रेम नहीं करता, बल्कि इसलिए कि अपनी आत्मा को फैलाकर उसे दूसरे के अंदर देखता है। सीप रेत का एक कण अपने अंदर प्रविष्ट करती है, जैसे माता वीर्य को धारण करती है और उसके कण के गिर्द अपने 'स्व' को लपेटना शुरू करती है। इस प्रकार वह उसको मोती बना लेती है। इसी तरह मनुष्य जिसे प्रेम करता है उसे अपने अंदर लेकर अपनत्व को उसके चारों ओर लपेट लेता है और उसे अपना बना लेता है। यही उसका प्रेम है। जब वह अपनी आत्मा को दूसरी सत्ता में विलीन कर देता है तो उसका 'अहं' नष्ट हो जाता है। ज्ञानी लोग अपनी आत्मा को इतना फैलाते हैं कि समाज, जाति, मानव-समाज, यहाँ तक कि प्राणिमात्र में अपने आपको ही समझने लगते हैं। यदि इसमें भी 'स्व' का कुछ अंश है तो वह इतना अधिक फैला हुआ है कि उसका अस्तित्व नहीं के बराबर है।

भगवद्गीता के अध्याय बारह के श्लोक ६[2] और ७[3] में कहा गया है, 'अर्जुन! तुम मन, बुद्धि और कर्म—सबकुछ मुझे अर्पित कर दो।' अध्याय अठारह के श्लोक ६५[4] और ६६[5] में बताया गया है, 'हे अर्जुन! सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जा। मुझ पर भरोसा रख। मेरे चरणों में आ और मेरा ही भक्त बन जा। मैं तुझसे कहता हूँ कि तू ऐसा कर, क्योंकि तू मुझे प्रिय है।' इन श्लोकों को पढ़ने पर मनुष्य एक बार अपना अस्तित्व भूलकर भगवद्गीता में तन्मय हो जाता है। तब प्रेम में मग्न हो पुकार उठता है, 'मैं धन नहीं चाहता। न मुझे सुख की इच्छा है, न मुक्ति की। मैं केवल आपके प्रेमामृत का प्यासा हूँ।'

---

१ न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। *(बृहदारण्यक उपनिषद्, २/४/५)*

२ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

३ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

४. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

५ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

प्रेम और विश्वास बल

ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता है त्यों-त्यों विश्वास बढ़ता है। तब निस्स्वार्थ भाव आता है और अहंकार मर जाता है। अपने पूज्य की भक्ति में भक्त अपने आपको खो देता है। इस विश्वास के अंदर वह बल पैदा हो जाता है जिसका मुकाबला दुनिया में नहीं हो सकता।

एक जाट कन्या का दृष्टांत है। वह अपने पिता के लिए भत्ता (खाना) सिर पर रखकर ले जा रही थी। रास्ते में नदी थी। उसने राम का नाम लिया और नदी के पार हो गई। राम का एक उपासक वहाँ हर रोज भक्ति किया करता था। उसे बहुत गुस्सा आया और उसने भी राम के भरोसे नदी पार करने का निश्चय किया। नदी में पॉव रखते ही उसे डर मालूम हुआ कि कहीं डूब न जाऊँ। फिर उसने एक मोटा सा रस्सा पेट पर बाँधा और दूसरा सिरा कमर में लटकाकर पानी में उतरा। थोड़ी ही दूर गया था कि गोते खाने लगा। तब राम को बुरा-भला कहना शुरू किया। राम ने प्रकट होकर पूछा कि क्यों भाई, इतना गुस्सा क्यों करते हो? उसने उत्तर दिया, 'उम्र भर तुम्हारी भक्ति करता रहा हूँ, पर मुझमें जाट की कन्या के बराबर भी शक्ति पैदा नहीं हुई।' राम ने समझाया, 'तुम्हारा प्रेम और विश्वास मेरी अपेक्षा अन्यों में ज्यादा है, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ!'

इसी तरह एक हिरनी की कहानी याद रखने योग्य है। छोटे बच्चे समेत उसे शिकारी ने पकड़ लिया। शिकारी ने एक तरफ आग लगा दी, दूसरी तरफ कुत्ते खड़े कर दिए, तीसरी तरफ बाड़ बना दी और चौथी तरफ तीर-कमान लेकर खुद बैठ गया। हिरनी को परमात्मा के सिवा कोई सहारा दिखाई न दिया। उसने भगवान् को सच्चे हृदय से याद किया। संयोग से आँधी चल पड़ी। इससे बाड़ में आग लग गई और वह जल गई। उधर से एक साँप निकला। उसने शिकारी को डस लिया। यह देखकर हिरनी अपने बच्चे को लेकर भाग गई।

□

तेरहवाँ परिच्छेद

कर्म-मार्ग

बिना कर्म के सबकुछ व्यर्थ है

कहते हैं, एक नाव में तीन विद्वान् पुरुष जा रहे थे। उनमें से हर कोई किसी-न-किसी विद्या का पंडित था। एक राग जानता था, दूसरा ज्योतिष और तीसरा तर्कशास्त्र। सब अपने-अपने गुण की तारीफ कर रहे थे। रागी ने दूसरों से पूछा, 'क्या आपने राग विद्या का कुछ अध्ययन किया है?' 'नहीं' में जवाब मिलने पर उसने कहा, 'आपने अपने जीवन का चौथा भाग व्यर्थ गँवाया।' ज्योतिषी ने भी वैसा ही प्रश्न दोहराया। जब उसे भी नकार में ही उत्तर मिला तो उसने कहा, 'आप लोगों ने आधी जिंदगी बेकार गँवा दी।' इसी प्रकार तर्कशास्त्रवाले ने प्रश्न किया और वही जवाब मिलने पर वह बोला, 'आपने तर्कशास्त्र नहीं पढ़ा तो अपने जीवन के तीन हिस्से यों ही खो दिए।' इतने में आँधी चल पड़ी और नौका डगमगाने लगी। नाविक बातें सुन रहा था। उसने सबसे पूछा, 'क्या आप लोगों ने तैरना भी सीखा है?' सबने जवाब दिया, 'नहीं।' तब वह बोला, 'आप सबने सारी जिंदगी ही व्यर्थ गँवाई।' वही हाल कर्म का है। अगर हमने कर्म करना नहीं सीखा तो बाकी सीखा हुआ सब बेकार हो जाता है। सिर्फ ज्ञान प्राप्त कर लेने से मनुष्य का कर्तव्य पूरा नहीं होता। भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक ४[१] और ५[२] आदि में कहा

---

१ न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

गया है, 'बिना कर्म के कोई मनुष्य रह नहीं सकता और बगैर कर्म के कोई भी मनुष्य कर्म के फंदे से निकल नहीं सकता।' आगे चलकर श्लोक २०[१] में बताया गया है, 'जनक आदि ने कर्म करके ही सिद्धि प्राप्त की थी।'

ज्ञान और कर्म

कर्म और ज्ञान पर विचार करते हुए प्रश्न उठता है, 'दोनों में से कौन अच्छा है?' भगवद्गीता के अध्याय पाँच के श्लोक ४[२] और ५[३] में उत्तर दिया गया है, 'ज्ञान-योग और कर्म-योग वास्तव में एक ही हैं। मूर्ख ही इन्हें अलग-अलग समझते हैं।' जनसाधारण के लिए बगैर कर्म के अकेले ज्ञान-मार्ग पर चलना बहुत कठिन है।

एक राजा ने शत्रु पर आक्रमण किया। उसका मंत्री शत्रु से मिल गया। फलतः उसे राजपाट, स्त्री आदि छोड़कर भागना पड़ा। यद्यपि उसे ज्ञात था कि उसकी स्त्री और मंत्री ने उसका साथ छोड़ दिया है, तथापि मन उनकी ओर लगा रहने से वह दुःख में पड़ा रहता।

कर्म और ज्ञान एक-दूसरे के अंदर मिला हुआ फल देते हैं। जब अंधा लूले को कंधे पर उठाता है, तभी वृक्ष से फल तोड़कर दोनों खा सकते हैं। बगैर ज्ञान के कर्म अंधे के समान है और बगैर कर्म के ज्ञान लूले के समान है।

एक व्यक्ति ने किसी जिन्न को अपने वश में कर लिया। जिन्न ने उससे यह शर्त की, 'आप जो कुछ माँगेंगे मैं वही प्रस्तुत कर दूँगा, परंतु मुझे हर समय आपको कुछ-न-कुछ काम बताना होगा। अगर आप ऐसा नहीं करेंगे तो मैं आपको खा जाऊँगा।' शर्त मंजूर कर ली गई। जब वह आदमी उस जिन्न से अपनी सभी आवश्यकताएँ पूरी करवा चुका तब उसके लिए उसे कोई काम नजर नहीं आया। वह डर के मारे भाग निकला। जिन्न उसका पीछा कर रहा था।

उस व्यक्ति को रास्ते में एक साधु मिला। साधु ने उससे भागने का कारण पूछा। अपनी समस्या बतलाने पर साधु ने उसे समाधान सुझाया, 'जमीन में एक

---

१ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥

२ सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

३. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

बास गाड दीजिए जिन्न जब दूसरे कामो से निपट जाए तब उसे बाँस के ऊपर नीचे चढ़ने-उतरने की आज्ञा दे दे। इस युक्ति से उसका छुटकारा हुआ। मनुष्य का मन भी उस जिन्न के समान है। यदि मनुष्य इसे कोई काम न बताए तो यह मनुष्य को ही खाने को दौड़ता है। कर्म-मार्ग ही इसके लिए बाँस है, जिसके द्वारा इससे बचाव हो सकता है।

भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक ६[१] में बताया गया है, 'इंद्रियों को बाहर से रोककर मन के विषयों का ध्यान करना ठगों का काम है।' मनुष्य का स्वभाव ही उससे कर्म करवाता है। ज्ञानियों के लिए इस कारण भी कर्म करना आवश्यक है कि दूसरे लोग उनका अनुकरण करते हैं। भगवान् कृष्ण कहते हैं, 'यद्यपि संसार में मेरे लिए कुछ भी करना बाकी नहीं है। फिर भी मैं कर्म करता हूँ, जिससे जनसाधारण काम छोड़कर अपने विनाश का कारण न हों।' (अध्याय तीन, श्लोक २२[२], २३[३] और २४[४])

कर्म के द्वारा कर्म का त्याग

कर्म और त्याग की समस्या आने पर भगवद्गीता के अध्याय पाँच, श्लोक २[५] में कहा गया है, 'यद्यपि संन्यास या त्याग भी अच्छा है, तथापि कर्म-मार्ग इससे ऊँचा है।' अनेक मनुष्य कर्म को कीचड़ के समान समझते हैं। कारण, जब कर्म के अंत में कर्म से ही मुक्ति प्राप्त करनी है, तब कर्म करना पहले कीचड़ से हाथ खराब करना और फिर पानी से हाथ धोने के बराबर है। इसका उत्तर यद्यपि विचित्र सा मालूम देता है, तथापि है सच। कर्म से मुक्ति कर्म द्वारा ही हो सकती है। इसलिए कर्म कीचड़ के समान नहीं है। यह असंभव है कि मनुष्य कर्म न करे; क्योंकि कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इस

---

१ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

२ न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

३ यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

४ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

५ संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

स्वभाव का एसा उपयाग करें कि कर्म के फंदे से निकल जाय यही कर्मयोग का सबसे बडा रहस्य है

मनुष्य एक बडा पेचीदा यत्र है उसकी चाहना है स्वार्थ जो भी काम वह करता है, उसका अतिम आधार स्वार्थ ही होता है। कर्म के द्वारा स्वार्थ को दूर करना कर्मयोग है। यह बात कठिन है, परंतु इसका तरीका आसान है। पहले तो सिर्फ इतना जानना जरूरी है कि कर्म वह करना चाहिए, जिसमें दूसरों का भला हो। ऐसा करने से कर्म करनेवाले का भला स्वयमेव हो जाता है। व्यक्तिगत इच्छा धीरे-धीरे कम करके दूसरों की भलाई को अपना उद्देश्य बना लेना चाहिए। भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक ११[१] और १२[२] में कहा गया है, 'जिस प्रकार सूर्य, चंद्रमा, वायु आदि सब देवता दूसरों की खातिर अपना-अपना काम करके संसार को चलाते हैं उसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह भी दूसरों के लिए कर्म करे।' तनिक आगे चलकर श्लोक १९[३] में बताया गया है, 'जो काम अज्ञानी इच्छा से बँधा हुआ करता है, ज्ञानी उसे इच्छा छोड़कर करे।'

इससे मनुष्य धीरे-धीरे अपने 'अहं' को भूलना सीखता है। परोपकार के लिए काम करने में भी फल की इच्छा अवश्य रहती है। जब परोपकारी पुरुष के काम की आलोचना होती है तब उसे दुःख होता है। अनेक बार ऐसा होता है कि वह जिनका भला करता है, वे ही उसके शत्रु हो जाते हैं। इस पर एक भले आदमी के बारे में ऐसा कहा जाता है कि उसको किसी ने आकर कहा कि अमुक व्यक्ति तुम्हारी बहुत निंदा करता है। वह हैरान सा हुआ और कहने लगा, 'भला क्यों, मैंने तो कभी उसके साथ कोई अच्छाई नहीं की?'

कर्म से फल की इच्छा निकाल देना

दूसरी मंजिल में भगवद्गीता के अध्याय दो का श्लोक ४७[४] हमारा पथ-प्रदर्शन करता है। इसमें कहा गया है, 'तुम्हारा कर्तव्य केवल कर्म करना है, फल की

---

१ देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

२ इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

३ तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

४ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

इच्छा रखना नहीं जब मनुष्य सभी काम परोपकार की खातिर करता है तब क्या हुआ, यदि उसका फल अच्छा है या बुरा? किसी कर्म से दुःख तभी होता है, जब कर्म के साथ फल की इच्छा मिली होती है। तसवीर टूटने से दुःख तो नहीं होता, अपनी तसवीर टूटने से दुःख होता है। मुआवजा की इच्छा रखकर किसी का भला करना एक प्रकार की दुकानदारी है। कर्म करने का उद्‌देश्य संसार की ऐसी भलाई नहीं होनी चाहिए, जो नजर न आ सके; बल्कि यह कि न उस कर्म में और न उसके फल में करनेवाले की अपनी उन्नति का विचार विद्यमान हो। इस प्रकार कर्मयोग का वास्तविक उद्‌देश्य पूरा हो जाता है और हमारी मुश्किल हल हो जाती है। काम करता हुआ मनुष्य कर्म से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। भगवद्‌गीता के अध्याय चार के श्लोक १८[१] में एक पहेली का उल्लेख है, 'वही पूरा ज्ञानी है, जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है।' बात साफ है; निष्काम कर्म में त्याग और जाहिरा त्याग में कर्म या मन का फँसना समझना ज्ञान है।

कर्मयोग का रहस्य निस्स्वार्थपरता की शिक्षा देते हुए मुक्ति का रास्ता बताना है। जब धर्म समझकर कर्म करने की आदत पड़ जाती है, तब अंदर की खुदी स्वयमेव मर जाती है और आदमी ब्रह्मानंद को प्राप्त करने का भागी बन सकता है। कर्मयोगी इस बात की परवाह नहीं करता कि संसार उसे क्या कहता है। फल का अच्छा या बुरा होना उसको सुख या दुःख नहीं देता, प्रशंसा या निंदा उसे प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं कर सकती। वह संसार के सब काम इस तरह करता है जैसे दाई बच्चों को खिलाती है, माँ की तरह प्यार करती है; परंतु नौकरी छूट जाने पर बिना किसी दुःख-दर्द के अपना रास्ता लेती है।

गीता ज्ञान का वास्तविक उद्‌देश्य

भगवद्‌गीता के अध्याय बारह के श्लोक १८[२] और १९[३] में बड़े सुंदर ढंग से एक सच्चे कर्मयोगी का वर्णन किया गया है, 'न वह खुश होता है, न रंज करता है, न इच्छा करता है, न परहेज करता है। वह अच्छे और बुरे—दोनों से परे हो जाता

---

१ कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

२ समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

३ तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

। स्तुति-निंदा, मान-अपमान, सर्दी-गरमी, सुख-दुःख और मित्र-शत्रु के विचार
से भी आगे हो जाता है।'

भगवद्गीता में सभी मार्गों का उल्लेख है; परंतु इन सबमें प्रधान कर्म-मार्ग को ही माना गया है। अध्याय दो के श्लोक ३९[१] में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, 'अभी तक तुमने ज्ञानयोग ही सुना है। अब मैं तुम्हें कर्मयोग बतलाता हूँ, जिसके फलस्वरूप तुम्हें व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त होगी।'

अध्याय दो के श्लोक ३१[२], ३२[३], ३३[४] और ३४[५] में कर्म करने के बारे में युक्तियाँ दी गई हैं। इनका समर्थन ३८[६], ३९[७], ४०[८] और ४१[९] में बड़े जोर के साथ किया गया है। अध्याय तीन के श्लोक २१[१०] एवं २२[११] आदि में इसी बात पर जोर दिया गया है। अंत में जाकर अध्याय अठारह के श्लोक ७२[१२] में, सारे ज्ञान के विस्तार के बाद, भगवान् कृष्ण अर्जुन से पूछते हैं, 'अज्ञान से उत्पन्न हुआ तुम्हारा

---

१ एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृण।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
२ स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
३ यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
४ अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
५ अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥
६ सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
७ एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृण।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
८ नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
९ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
१०. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
११ न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
१२. कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥

मोह दूर हुआ है या नहीं? इसका उत्तर (श्लोक ७३ में) * अर्जुन यों देता है मेरा मोह दूर हो गया है। मुझे सत्य ज्ञान मिल गया है। अब मैं वही करूँगा, जो आप आज्ञा देंगे।' यह उद्देश्य है, जिस पर भगवद्गीता हमें ले जाती है।

उपनिषद् और निष्काम कर्म

उपनिषद् और निष्काम कर्म करने पर बहुत जोर दिया गया है। छांदोग्य उपनिषद् में एक कथा है, जिसमें निष्काम कर्म के महत्त्व को प्रकट किया गया है। एक बार इंद्रियों और विषयों में परस्पर युद्ध हुआ। इंद्रियाँ देवताओं और विषय दैत्यों के समान हैं। इस मुकाबले में इंद्रियाँ हारने लगीं। अब उन्होंने अपना नेता चुनने का विचार किया। पहले आँखों को नेता बनाया गया। यह देखकर असुरों ने खूबसूरत चीजें सामने रख दीं। आँखें उधर फँस गईं, इसलिए इंद्रियाँ हार गईं। फिर उन्होंने कानों को चुना। असुरों ने मीठे-मीठे स्वर और राग शुरू कर दिए। कान उनमें उलझ गए। तब उन्होंने नाक को नेता बनाया। वह सुगंधमयी वस्तुओं में फँस गई। अंत में उन्होंने प्राणों को अपना नेता घोषित किया। प्राणों में कोई स्वार्थ न था। वे किसी प्रकार असुरों के दाँव में नहीं फँसे। देवताओं की जीत हुई।

प्राणों के समान निस्स्वार्थ होने से ही मनुष्य संसार के युद्ध में विजय-लाभ कर सकता है। प्राणवत् होना ही देवत्व है।

स्व-कर्तव्य की पूर्ति ही बड़ा कर्मयोग है

महाभारत में ऐसी कई कथाएँ पाई जाती हैं, जो कर्म के महत्त्व को जतलाती हैं। उनमें से एक यों है—एक नवयुवक योगी वृक्ष के नीचे बैठा था। ऊपर से एक पक्षी ने बीट कर दी। योगी ने क्रोधपूर्ण दृष्टि से ऊपर देखा। वह पक्षी जलता हुआ नीचे आ गिरा। वही योगी एक दिन भिक्षा माँगता हुआ किसी गृहस्थ के घर पहुँचा। गृहिणी उस समय अपने रुग्ण पति की सेवा में संलग्न थी। भिक्षा लाने में उसे कुछ देर हो गई। जब वह भिक्षा देने लगी तब योगी उसकी तरफ भी लाल आँखों से देखने लगा। स्त्री ने देर का कारण बताकर क्षमा माँगी; परंतु योगी शांत न हुआ। इस पर वह बोली, 'महाराज, यहाँ कोई चील-कौए नहीं हैं, जो आपके इस प्रकार देखने से जल जाएँगे।' योगी हैरान रह गया। देवी से उसने ज्ञान सीखना चाहा। स्त्री ने

---

* नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

काशी में एक कसाई का पता बताया, जो प्रकट में नीच कर्म करने पर भी वास्तव में ज्ञानी था।

अपना-अपना कर्म ही सबसे बड़ा योग है।

स्त्री के लिए कर्मयोग

स्त्री के लिए सबसे बड़ा योग उसका पातिव्रत्य धर्म है, यह बात सावित्री की कथा से भलीभाँति प्रकट होती है। सावित्री एक राजा की अत्यंत रूपवती व गुणवती कन्या थी। राजा को उसके लिए वर की आवश्यकता हुई। वह अपनी कन्या को साथ लेकर उसकी खोज में निकला। सब जगह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे वन के अंदर द्युमत्सेन नामक एक राजर्षि की कुटिया में पहुँचे। द्युमत्सेन का बेटा सत्यवान बहुत सुंदर और सब प्रकार से योग्य था। सावित्री ने मन-ही-मन उसे अपना पति मान लिया। जब राजा अपने राज्य में वापस आए तो ज्योतिषियों ने बताया कि चाहे सब गुण सत्यवान में हैं, किंतु एक बड़ा दोष है कि उसकी आयु का केवल एक वर्ष शेष है। पिता ने सावित्री को बहुत समझाया, परंतु वह अपने प्रण से नहीं टली।

दोनों का विवाह हो गया। सावित्री अपनी कुटिया में रहने लगी। सत्यवान प्रतिदिन जंगल में लकड़ियाँ लाने जाया करता था। जब उसका मृत्यु-दिवस आया तो उस दिन सावित्री भी उसके साथ वन में गई। संध्या का समय हुआ और सत्यवान बीमार हुआ। सावित्री उसके सिर को गोद में लेकर बैठ गई। वैसे ही लेटे हुए उसने प्राण त्याग दिए। यमदूत लेने आए। सावित्री का तेज इतना था कि वे उसके निकट नहीं जा सकते थे। लाचार होकर वे वापस लौट गए और यमराज स्वयं आए। उनका भी साहस नहीं हुआ कि सावित्री के सामने जाएँ। आखिर उन्होंने दूर से सावित्री को समझाना शुरू किया कि सत्यवान मर चुका है, अब वह जीवित नहीं हो सकता, उसे गोद से परे रख दे। सावित्री ने मृत शरीर रख दिया और यमराज के पीछे-पीछे चल दी। यमराज उसके तप से घबराए और उसे लौट जाने के लिए बहुत समझाया। उन्होंने उसे कई वरदान भी दिए; परंतु सावित्री ने पीछा तब तक न छोडा जब तक उन्होंने उसके पति को जीवनदान न दे दिया। इस प्रकार सावित्री ने सत्यवान को पुनर्जीवित करा लिया।

यह एक दृष्टांत है। इसके महत्त्व को पहचानना आवश्यक है।

अब्राहम लिंकन और कर्मयोग

कई अन्य स्थानों में भी हमको कर्म के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। अब्राहम

लिंकन अमेरिका के राष्ट्रपति थे एक दिन घोडे पर सवार होकर वह अकेले जा रहे थे। तभी रास्ते में उन्होंने एक सूअरी को कीचड़ मे फँसा हुआ देखा। वह निकलने की कोशिश तो करती थी, परंतु निकल नहीं पाती थी। लिंकन घोड़े से उतर पड़े। बडी मुश्किल से उन्होंने सूअरी को निकाला। इस प्रयत्न में उनके कपड़ों पर कीचड़ के दाग लग गए। फिर घोड़े पर सवार होकर वह राष्ट्रसभा में चले गए। कुछ सदस्यों ने कीचड़ लगने का कारण पूछा। इस पर उन्होंने सारी बात बताई। इसे सुनकर वे सदस्य कहने लगे, 'आप बड़े दयालु हैं, जो सूअर को भी दु:ख में न देख सके।' लिंकन ने उत्तर दिया, 'मैंने यह प्रयत्न उसका दु:ख दूर करने के लिए नही किया था। इसमें मेरा स्वार्थ था। मैं अपने मन के क्लेश को दूर करना चाहता था। उसका दु:ख मुझे आ लगा। उससे छुटकारा पाना मेरे लिए जरूरी था।'

मौलाना रूम और काबा

मौलाना रूम ने एक शेर लिखा है, जिसका अर्थ यह है, 'दिल को काबू मे कर, यह बड़ा हज है। हजारों काबों की निस्बत एक दिल को काबू में करना कहीं बेहतर है।' मौलवियों ने मौलाना रूम को काफिर करार दिया। फलत: उसके खिलाफ फतवा जारी करने की तैयारी होने लगी। अपनी सफाई में उसने इस शेर का कारण बतलाते हुए यह कथा सुनाई, 'एक बार मैं हज करने के लिए काबा गया। लेकिन वहाँ मैंने काबा को मौजूद नहीं पाया। इधर-उधर से पता किया। जिधर काबा गया था उधर मैं भी चल पड़ा। रास्ते में काबा मिल गया। मैंने जब उसके उधर जाने की वजह पूछी तो उसने बताया कि एक बुढ़िया के स्वागत के लिए गया था। इस पर मुझे उस बुढ़िया को देखने का शौक पैदा हुआ। उसकी सेवा में उपस्थित होकर मैंने उससे पूछा, 'क्या कारण है कि वह काबा, जिसके पास लाखों आदमी जाते हैं, आपके स्वागत के लिए आया था?' वृद्धा ने उत्तर दिया, 'मुझे इसका कुछ भी ज्ञान नहीं।' तब मैंने कहा, 'आखिर आपने बड़े पुण्य का कोई काम किया होगा।' वृद्धा बोली, 'मुझसे और तो कुछ नहीं हुआ। हाँ, अभी आते हुए रास्ते से मैंने एक कुत्ते को कुएँ के मुँह के गिर्द फिरते देखा। वह प्यास से हाँफ रहा था। कुआँ बहुत गहरा था। मैंने पत्तों का एक दोना तैयार किया और अपने कपड़े फाड़कर डोरी बनाई। परंतु डोरी छोटी निकली; दोना पानी तक न पहुँचा। जब कोई कपड़ा न रहा तब मैंने सिर के बालों को उखाड़कर एक रस्सी बनाई और पानी निकालकर कुत्ते को पिलाया।' यह कथा सुनकर मैंने अपने दिल में सोचा कि जब एक तुच्छ पर दया करने से काबा ने बुढ़िया का इतना मान किया तब आदमी का

दिल हासिल कर लेना निश्चय ही काबा के हजों से बेहतर है।'

युधिष्ठिर और कुत्ता

इसी प्रकार का, परंतु इससे कहीं बढ़कर सुंदर दृष्टांत युधिष्ठिर का है। राजपाट करने के पश्चात् पाँचों भाइयों ने यह निश्चय किया कि हिमालय की बर्फ मे जाकर गल जाएँ। द्रौपदी को साथ लेकर वे सब हिमालय की ओर चल पड़े। उस रास्ते पर चलते हुए पीछे मुड़कर देखना पाप समझा जाता था। सबसे पहले द्रौपदी भूख एवं प्यास के कारण थक गई और गिर पड़ी। उसने प्राण छोड़ दिए। फिर आगे चलते-चलते पहले तो सहदेव और नकुल मृत होकर गिर पड़े, फिर अर्जुन और भीम। अब युधिष्ठिर अकेले रह गए। एक कुत्ता शुरू से उनके साथ चला आ रहा था। अंत में युधिष्ठिर स्वर्गलोक के द्वार पर पहुँच गया। उसके लिए दरवाजा खोला गया। युधिष्ठिर ने कुत्ते को अंदर प्रवेश करने के लिए इशारा किया।

इस पर पहरेदारों ने कहा, 'नीच कुत्ता स्वर्गलोक में कैसे प्रविष्ट हो सकता है?' युधिष्ठिर बोला, 'परंतु मैं तो अपने साथी को छोड़कर अकेला इस लोक में पाँव नहीं रखूँगा।' बहुत वाद-विवाद के पश्चात् कहा गया, 'केवल एक शर्त पर कुत्ता अंदर जा सकता है; वह यह कि अपने सारे पुण्यों के फल आप कुत्ते को दे दें।' ज्यों ही युधिष्ठिर ने इसे स्वीकार किया त्यों ही सामने से परदा हट गया और दृश्य बदल गया। युधिष्ठिर की जय-जयकार होने लगी। द्रौपदी और चारों भाई युधिष्ठिर के सामने खड़े थे। कुत्ता धर्मराज के रूप में युधिष्ठिर के सामने था।

□

चौदहवाँ परिच्छेद

मत-मतांतर

मज़हब का तत्त्व

मज़हब का असली और सच्चा तत्त्व तो यह है कि किसी प्रकार मनुष्य सर्वात्मा को अपने अंदर अनुभव करके उसके साथ अपने संबंध को पहचान सके। यही ज्ञान है और यही कर्म, भक्ति आदि का उद्देश्य है। यदि हम मज़हब का तथ्य इस अर्थ में जान लें तो मज़हब के नाम पर पारस्परिक विद्वेष की अग्नि क्यों भड़के। वस्तुस्थिति यह है कि मज़हब का अर्थ कुछ और ही समझा जाता है। संस्कृत या हिंदी में मज़हब के लिए कोई शब्द नहीं है। बात यह है कि इस देश में कभी कोई मज़हब न था। मज़हब का तत्त्व या बीज तो अनादि है और यहाँ वह न केवल मौजूद था, बल्कि यहीं से वह शेष संसार में फैला; परंतु विभिन्न मज़हब मनुष्य की कल्पनाएँ हैं और वे कुछ ही समय से शुरू हुए हैं। ईसाई मज़हब को ही लीजिए। आजकल इसकी सैकड़ों शाखाएँ हैं, यद्यपि आरंभ में यह एक था। इसलाम की सभी शाखाएँ एक ही मज़हब से निकली हैं। वृक्ष का तना एक होता है, शाखाएँ असंख्य। इसी प्रकार वर्तमान विभिन्न मज़हब वास्तविक मज़हब के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

मज़हब का अर्थ

'मज़हब' शब्द अरबी भाषा की उसी धातु से निकला है, जिससे 'तहज़ीब' निकला है। अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' का अर्थ 'विश्वास' है। हिंदी भाषा में इसके लिए या तो 'मत' शब्द इस्तेमाल किया जाता है या 'धर्म' (कर्तव्य के अर्थ में)।

वर्तमान सभी मज़हब, जो वास्तव में मत ही हैं, पुरातनकाल में तहज़ीब या उन्नति प्राप्त हो चुकने के बाद हैं, उत्पन्न हो सकते थे। सेमेटिक मत पहले विशिष्ट प्रश्नों पर अपना निश्चित विश्वास ठहरा लेते हैं, बाद में उन्हीं को जानने या सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। इसके विपरीत, हिंदू दार्शनिक या ऋषि मज़हब के तत्त्व को 'ज्ञान' का नाम देते हैं। वे किसी काल्पनिक परमात्मा अथवा आत्मा को लेकर नहीं चलते। वे जिस ब्रह्मांड को अपने चारों ओर देखते हैं, उसे समझने की कोशिश करते हैं और केवल उन्हीं बातों पर विश्वास करते हैं, जिनको वे अपनी खोज के द्वारा अच्छी तरह जान लेते हैं।

वेदों तथा उपनिषदों का अध्ययन बहुत शिक्षाप्रद है। इनसे मालूम होता है कि किस प्रकार मनुष्य सृष्टि के आदि ऋषि—जिनकी बुद्धि तथा हृदय शीशे की तरह साफ थे, क्योंकि उनमें विषय-वासना की बू तक पैदा नहीं हुई थी—अनंत ब्रह्मांड को अपने सामने फैला देखकर महान् आश्चर्य अनुभव करते हैं और किस प्रकार उसके अंदर खोज करते-करते वे अंत में ब्रह्म तक पहुँचते हैं। वेद में कई मंत्र इस प्रकार मिलते हैं, 'कस्मै देवाय हविषा विधेम?' अर्थात् हम किस देवता के लिए आहुति दें?

उपनिषदों के अंदर प्रश्नोत्तर का सिलसिला बड़ा उत्तम और मनोरंजक है। ऋषि सबसे पहले बाह्य संसार से चलकर अंत में उसके अंदर काम करती हुई शक्ति ब्रह्म तक पहुँचे। उनके दार्शनिक विचार साधारण होकर विशेष सिद्धांतों के रूप में संसार में फैल गए।

मज़हब के विभिन्न अंग

यह मज़हब क्या है? प्रायः हर एक मज़हब इन पाँच अंगों से बनता है—'राजनीति, दर्शन, आचार नीति, व्यक्तिगत किस्से और कुछ अज्ञात बातों पर विश्वास। सब मज़हबों के एक हिस्से का संबंध राजनीतिक और सामाजिक तथ्यों से होता है। इंग्लिश चर्च तो केवल राजनीतिक संस्था सी है, जिसका प्रधान इंग्लैंड का सम्राट् है। दूसरे हिस्से में नैतिक उपदेश इत्यादि होते हैं, जिनको बताकर उस मज़हब की उत्तमता को प्रकट करने का प्रयत्न किया जाता है। हर एक मज़हब ने आत्मा के आरंभ और अंत के विषय में अपना मत बना रखा है। यह उसका दर्शन है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक मज़हब में उसके प्रवर्तक तथा नेताओं के बारे में किस्से-कहानियाँ, सच्चे या अतिरंजित भी पाए जाते हैं।'

किसी जाति या राष्ट्र की राष्ट्रीयता या जातीयता उसकी भाषा, साहित्य,

इतिहास, दर्शन आदि अगो से बनी होती है पेगन* कही जानेवाली प्राचीन जातियो की सभ्यता और वर्तमान मज़हबों—यहूदियों के मज़हब, ईसाइयत और इसलाम में इतना अंतर है कि ये मज़हब अज्ञेय बातों में विश्वास पर बहुत जोर देते हैं और प्राचीन जातियाँ अपनी रीतियों पर। इस फर्क को छोड़कर देखें तो पेगन सभ्यता और वर्तमान मज़हब के अर्थ एवं प्रयोग एक जैसे मालूम पड़ते हैं।

एक नीति-शास्त्र कहता है, 'जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है। जो मनुष्य धर्म को मारता है, धर्म उसका नाश कर देता है।' राष्ट्र का धर्म भी राष्ट्र का रक्षक है। मज़हब और सभ्यता भी राष्ट्र के रक्षक हैं। वास्तव में धर्म, मज़हब, तहज़ीब या सभ्यता का अर्थ एक ही है।

हमारा मज़हब हमारा क्योंकर हुआ?

जिसे हम अपना मज़हब कहते हैं, उसके लिए हम सबकुछ बलिदान करने पर तैयार हो जाते हैं; परंतु इस बात पर बहुत कम लोग ध्यान देते हैं कि उनका मजहब क्योंकर उनका है। जिस मज़हब को हम अपना समझकर उससे इतना प्यार करते हैं, उसके चुनने में प्रायः हमारा कोई हाथ नहीं होता। प्रायः जिस विशिष्ट माता-पिता के यहाँ हमारा जन्म होता है, उन माता-पिता का मज़हब ही हमारा मजहब हो जाता है। बचपन में विशेष विचार-क्रम हमारे दिमाग पर ऐसा जम जाता है कि हम अपने जीवन में बुद्धि तथा विद्या संबंधी चाहे जितनी उन्नति कर लें, उन विचारों से पीछा नहीं छुड़ा सकते। हमारा समाज और हमारे विद्यालय व रिवाज़ भी उसी प्रभाव को दृढ़ करते हैं। अपने मज़हब के साथ लोगों का लगाव इतना ज्यादा हो जाता है कि जो कुछ उसके अनुसार न हो, वह उन्हें बुरा मालूम देने लगता है। यही नहीं, अन्य मज़हबों से घृणा भी हो जाती है। यह मनुष्य के तअस्सुब या मजहबी पक्षपात की नींव है। इसी कारण संसार में मज़हबी असहिष्णुता फैली है। इस असहिष्णुता के कारण जो अत्याचार मानव ने मानव पर किए हैं, वे न तो शैतान ने किए हैं, न किसी प्राकृतिक शक्ति ने।

मज़हबी पक्षपात और घृणा

इस युग में प्रकट रूप से मज़हब के नाम पर वे लड़ाइयाँ और खून-खराबा

---

* पेगन—Pagan, वे लोग जिनको न तो जिहोवा में विश्वास है, न ईसा और अल्लाह में; अर्थात् जो मज़हब की दृष्टि से न यहूदी हैं, न ईसाई और न मुसलमान। (सं.)

नहीं हुआ, जो पिछले जमाने में होता रहा है। इसलिए हम समझने लग जाते हैं कि दुनिया उन्नति कर गई है, मज़हबी अत्याचार की पुनरावृत्ति का कोई डर नहीं; लेकिन यह केवल नुमाइशी बात है। असल में हर एक मनुष्य अपनी शक्ति को प्रायः उन्हीं कामों में खर्च करता है, जो या तो प्रेमवश किए जाते हैं या घृणा के कारण करने पड़ते हैं। राग और द्वेष दो भाग हैं, जो मनुष्य के कारोबार को चलाते हैं। एक मजहब के कई करोड़ मनुष्य शेष सभी मनुष्यों से मज़हब के कारण द्वेष रखते हैं। संसार में सबसे अधिक घृणा की सृष्टि मज़हबी मतभेद के कारण होती है। इसका इलाज़ भगवद्गीता में बताया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं, 'सभी रास्ते मुझ तक आते हैं। जो जिस रास्ते से आता है, उसे मैं उसी रास्ते से स्वीकार करता हूँ।' यह सच्ची सहिष्णुता है, जो अन्यत्र कहीं नहीं दिखलाई देती।

हजरत इब्राहीम की कहानी है कि वह हर रोज मेहमान को खाना खिलाकर खाया करता था। संयोग की बात, तीन-चार दिनों तक कोई मेहमान न मिलने के कारण उसे भूखा रहना पड़ा। बड़ी खोज के बाद एक बूढ़ा पारसी इब्राहीम को मिला। उसको वह घर लाया। दस्तरखान बिछाया गया। इब्राहीम ने दुआ पढ़ी। पारसी ने बिना किसी दुआ के खाने को हाथ बढ़ाया। इब्राहीम ने पूछा, 'यह क्या?' बूढ़े ने जवाब दिया, 'हमारे यहाँ खुदा का नाम लेने का रिवाज नहीं है।' इस पर हजरत को गुस्सा आ गया। वह खाना भूल गया और लाठी लेकर उसे निकालने लगा। उसी समय अचानक खुदा का फरिश्ता दिखाई दिया। उसने इब्राहीम को डाँटा और कहा, 'मैंने इस बूढ़े को अस्सी साल तक खाना दिया है, तुम्हें सिर्फ एक ही दिन खाना देना पड़ा है और उसी में घबरा गए हो!' तब इब्राहीम को समझ आई।

मज़हबों का विस्तार

प्राचीन जातियाँ भी जहाँ-जहाँ जाती थीं, उनकी सभ्यता की अच्छी बातें अन्य जातियाँ स्वयमेव ग्रहण कर लेती थीं; परंतु जब से वर्तमान मज़हबों ने सभ्यता का स्थान ले लिया है तब से उसके प्रसार के तरीके विचित्र हो गए हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में अपनी भक्ति तथा प्रेम पर जोर दिया है; परंतु यह सब एक प्रकार से रूपक है। वहाँ 'मैं' का अर्थ आत्मा है। बौद्ध मत संसार में सबसे पहला मज़हब है, जिसमें गौतम बुद्ध ने अपने नाम का मज़हब जारी करके प्रचार को फैलाव का साधन बनाया। उनका अनुकरण कर राजाओं ने बेटे-बेटियों तक से धर्म-प्रचार का काम करवाया।

बौद्ध मत के बाद ईसाई मज़हब ने अपने आपको फैलाने में प्रेम तथा नम्रता

से बहुत काम लिया, साथ ही तलवार से भी कम काम नहीं लिया। इसलाम ने तो अपने फैलाव के लिए प्राय: तलवार का ही सहारा लिया। समय आने पर ईसाइयत और इसलाम की तलवारों का मुकाबला हुआ। आठवीं शताब्दी के पहले भाग से स्पेन को जीतने के पश्चात् मुसलिम फौजें फ्रांस पर चढ़ गईं। तब सारी ईसाई जातियाँ मुकाबले के लिए तैयार हो गईं। पेरिस के पास ही इसलाम और ईसाइयत का निर्णायक युद्ध हुआ, जिसके परिणाम के संबंध में प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार गिबन यों लिखता है, 'यदि इस युद्ध में इसलाम जीत जाता तो आज ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज के विश्वविद्यालयों में अंग्रेज विद्वान् मुसलिम विद्यार्थियों को कुरान पढा रहे होते। सचमुच, चार्ल्स मारटल ने यूरोप को इस गज़ब से बचा लिया।' किंतु गिबन यह भूल गया कि जिन तरीकों से यूरोप या इंग्लैंड ईसाई हुए थे वे भी वास्तव में उसी प्रकार के थे।

मज़हबों के फैलाव के साधन

यदि आज वर्तमान मज़हबों के रखने में लोगों का अपना हाथ नहीं है तो यह देखना बाकी है कि जिन लोगों ने ये मज़हब ग्रहण किए, उन्होंने क्या सोच-विचार के बाद ऐसा किया था। विभिन्न मनुष्यों और जातियों ने जिन प्रभावों के अधीन मजहबी परिवर्तन स्वीकार किए, वे आश्चर्यजनक हैं। हमारा आश्चर्य तब और भी बढ जाता है जब हम देखते हैं कि उनके बावजूद मज़हब रखनेवाले लोग अपने-अपने मज़हब से इतना प्रेम करते हैं। इन परिवर्तनों को पैदा करनेवाली सबसे बड़ी शक्ति तलवार या युद्ध में विजय है। तलवार की ताकत ने मिस्रवासियों और ईरानवासियों जैसी दो पुरानी जातियों को मुसलमान बनाया तो जर्मनी को ईसाई बनने के लिए बाध्य किया।

रोम का सम्राट् कॉन्स्टेंटाइन लड़ाई पर जा रहा था। जब उसने अपने सिपाहियों को ईसाई ढंग से प्रार्थना करते देखा तो उसने उनसे कहा कि अगर वे विजयी हुए तो वह भी ईसाई मत को स्वीकार कर लेगा। हुआ भी ऐसा ही।

विवाह संबंध ने भी मज़हबी परिवर्तन में बड़ा भाग लिया है। फ्रांस और इंग्लैंड के इतिहास में इसके कई उदाहरण मिलते हैं। फ्रांस का राजा ईसाई लड़की से विवाह करके ईसाई हो गया। उसी प्रकार फ्रांस की राजकुमारी ने केंट के राजा को और फिर वहाँ की राजकुमारी ने एंगलिया आदि के राजा को ईसाई मत में शामिल किया।

अज्ञानता के युग में चमत्कारों के किस्से-कहानियों ने भी मज़हबी तब्दीली

में बहुत काम किया है। प्रचारकों और मिशनरियों के त्यागमय जीवन भी इसे सहायता देते रहे हैं। स्कूलों और अस्पतालों को भी मज़हब फैलाने का साधन बनाया गया है। भारत में अत्यधिक गरीबी के कारण अकाल के दिनों में अनाथ बच्चों को ऐसे काबू में किया जाता है जैसे पक्षी पकड़नेवाले जाल के साथ दाना डालकर कबूतरों को फँसाते हैं।

इन बातों पर जितना अधिक विचार किया जाय उतना ही यह तथ्य अधिक स्पष्ट होता है कि जिन लोगों ने इन प्रभावों के अधीन होकर अपना मज़हब बदला है उन्होंने न तो कोई नैतिक उन्नति की है, न मज़हब को चुनने में सोच-विचार से कुछ काम लिया है, न ही ये तरीके किसी मज़हब के सच्चा होने का कोई तर्क हैं।

विभिन्न मज़हबों का स्रोत

मज़हबों की तुलनात्मक विद्या इस परिणाम पर पहुँची है कि विभिन्न मजहब एक ही स्रोत से निकले हैं और इनकी प्रकट भिन्नताएँ वास्तव में उन्हीं सिद्धांतों के उलट-पलट और बिगड़े हुए रूप हैं।

प्राचीनकाल में भारत, बेबीलोनिया और मिस्र ने उन्नति की थी। इनकी सभ्यताओं के अंदर बहुत हद तक पारस्परिक समानता दीख पड़ती है। जीवात्मा का आवागमन, समाज की वर्ण-व्यवस्था, देवताओं का पूजन—ये बातें सबमें मिलती हैं। फ्रांसीसी विद्वान् जकालियो, जो कि चंद्रनगर में मुख्य न्यायाधीश था, ने अपनी 'भारत में बाइबल' नाम की पुस्तक में कई अकाट्य युक्तियों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अपने मज़हब और कानून में प्राचीन मिस्रवासियों ने हिंदू धर्मशास्त्रों का अनुकरण किया है। इन बातों को यहूदियों ने मिस्र में निर्वासन के समय सीखा और अपनी तौरेत में दर्ज किया। इसके साथ ही यहूदी कबीले ने बेबीलोनिया की सभ्यता को भी अपने अंदर आत्मसात् कर लिया। फलतः चिरकाल तक उनमें देवताओं का पूजन प्रचलित रहा। देवताओं के संघर्ष में मॉलाक जेहोवा अंत में जीत गया और वह सबसे बड़ा माना जाने लगा।

ईरानियों और हिंदुओं का संबंध

प्राचीन ईरानियों का भारतीयों आर्यों से बहुत घनिष्ठ संबंध था। एक विद्वान् डार्मेस्टेटर का कहना है कि 'जेंद अवेस्ता' की शैली और विषय वेद से बहुत मिलते हैं। पारसी मत की रीतियों—होम, अग्नि, पूजा, पवित्र सूत्र (यज्ञोपवीत की तरह) आदि से सिद्ध होता है कि दोनों सभ्यताएँ किसी समय एक थीं। ईरानियों ने यहूदी

मजहब पर प्रभाव डाला यूनान और इटली मे भी उन्होने अपनी सभ्यता फैलाई यूनान और इटली, जो यूरोप मे सभ्य देश थे, मे ईसाई बनने से पूर्व मिथ्रा' देवता की पूजा प्रचलित थी। यही देवता वेदों में 'मित्र' कहलाता है, जिसका अर्थ 'सूर्य' है। इटली के लोगों का सबसे बड़ा त्योहार इस देवता की जातीय पूजा थी, जो दिसंबर मास के अंत में, सूर्य के उत्तरायण के समय, की जाती थी। पहले-पहल ईसाइयों ने थोड़ी शक्ति प्राप्त करने पर इस त्योहार को रोकने की कोशिश की; किंतु जब देखा कि इटली के लोग इसे नहीं छोड़ेंगे तो बाद में ईसाइयों ने युक्तिपूर्वक इस त्योहार को ईसा का कल्पित जन्मदिन बताकर क्रिसमस का त्योहार बना लिया।

बौद्ध मत का प्रभाव

ईसा के जन्म से कुछ समय पूर्व बौद्ध प्रचारकों ने ईरान, सीरिया आदि में अपने विचारों का पर्याप्त प्रचार किया। अफगानिस्तान तो पूर्णरूप से बौद्ध मत के अधीन था। इधर बर्मा, चीन और जापान में भी बौद्ध मत जोर पकड़ रहा था। पक्षपात-रहित विद्वानों की राय है कि ईसा की शिक्षा में जो ऊँचे नैतिक तथा आध्यात्मिक विचार पाए जाते हैं, वे गौतम बुद्ध की शिक्षा के प्रचार के फल हैं। यही नहीं, शुरू के चर्च ने बौद्ध मत से बहुत से रिवाज नकल किए। मांक्स और नंज (अर्थात् भिक्षु और भिक्षुणियाँ), पादरियों की तसबीह या सुमिरनी, गिरजों में मूर्तियाँ, मूर्ति के सामने धूप-दीप जलाना आदि सभी रीतियाँ बौद्ध मत की थीं। सदियों बाद जब यूरोप के ईसाई पादरी पहले-पहल भारत में आए तब मंदिरों आदि में ये रिवाज देखकर वे चकित हो गए थे और समझने लगे थे कि शैतान उनकी नकलें उतरवा रहा है।

बौद्ध मत के 'निर्वाण', 'बुद्धि', 'योग', 'बुद्धि-युक्ति' आदि शब्द भगवद्गीता में पाए जाते हैं। बौद्ध मत के अर्हत् और भगवद्गीता के स्थितप्रज्ञ के लक्षण सर्वथा एक जैसे हैं। भगवद्गीता के कई श्लोक, उदाहरणार्थ—अध्याय दो का श्लोक ६९[१], अध्याय सात का श्लोक २९[२] और अध्याय बारह का श्लोक १५[३] अक्षरशः

---

१ या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

२ जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

३ यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

बौद्ध पुस्तको मे हैं

यहूदी परंपराएँ और इसलाम

अरब की सभ्यता और राजनीतिक शक्ति को संसार में इसलाम ने कायम किया। अरब की प्राचीन सभ्यता बेबीलोनिया की सभ्यता की एक शाखा थी। काल के हेर-फेर से यह बिखर चुकी थी। हजरत मुहम्मद ने एक ऐसी अग्नि उत्पन्न कर दी, जिसने लड़ने-झगड़नेवाले पुराने अंगों को जलाकर नया जीवन उत्पन्न कर दिया, जिसने दुनिया का तख़्ता हिला दिया। यह जिंदगी यहूदी मत की बातों के द्वारा पैदा की गई, जिस पर हज़रत मुहम्मद की पैगंबरी की मुहर लगी है। इसलाम के अंतर्गत पैगंबरी का सिद्धांत, संसार की उत्पत्ति, आदम और हौवा, दोज़ख और बहिश्त की कल्पना, हराम और हलाल, पाक और नापाक की धारणाएँ, सुन्नत की प्रथा, सूअर के विरुद्ध कस्म इत्यादि यहूदी मज़हब की बातें हैं। फर्क इतना है कि यहूदी इन्हें अपने कबीले के लिए ही समझते रहे और उन्होंने कभी दूसरों को अपने अंदर लाने की कोशिश नहीं की, जबकि मुसलमानों ने दूसरों के अंदर इनका प्रचार करके उनको अपने मज़हब में शामिल कर लिया। यह रोग तो केवल बौद्ध मत से शुरू हुआ है। अरब के पुराने निवासी, जो मुहम्मद साहब के विरोधी थे, उन पर ये बड़ी भारी आपत्ति करते थे कि जितने विषय उनकी पवित्र पुस्तक में बताए गए हैं, वे सब ढकोसले हैं। इसका उत्तर यह दिया जाता था कि इसका निर्माण खुदा करेगा।

मुहम्मद साहब अपने कार्य का विशेष महत्त्व समझते थे। कहते हैं, एक बार वे किसी ऐसी जगह थे, जहाँ की ज्यादातर आबादी ईसाइयों की थी। दैवयोग से वे यरूशलम (जो ईसाइयों का एक पवित्र स्थान है) की ओर मुँह करके नमाज़ पढ़ रहे थे। हजारों ईसाई उनके पीछे नमाज के लिए एकत्र हो गए। किसी ने उन्हें बताया कि वे सब लोग यरूशलम (के प्रति श्रद्धा) के कारण उनके पीछे हैं। दूसरी बार मुहम्मद साहब ने मुँह विपरीत दिशा में कर लिया। सब लोग उठकर चले गए। केवल सात व्यक्ति वहाँ रह गए। मुहम्मद साहब ने हर एक को गले लगाया और कहा, 'तुम मेरे हो, वे सब मेरे न थे।'

यूरोप में प्राचीन विद्याओं का पुनर्जन्म

मज़हबों के इतिहास का अध्ययन मनुष्य को आश्चर्य में डाल देता है कि परमात्मा के नाम पर देशों के अंदर और विभिन्न जातियों के मध्य में कितनी लड़ाई-झगड़े और कितना रक्तपात हुआ। इसलाम व ईसाई मत के शताब्दियो

तक चले जेहाद और रोमन कैथोलिक व प्रोटेस्टेट चर्चो की आपस मे लड़ाइयाँ इसका प्रमाण है।

लगभग एक हजार वर्ष तक यूरोप ईसाई मज़हब के प्रभुत्व में रहा। यह यूरोप के इतिहास का अंधकार काल है। ईसाई चर्च ने सभी विद्याओं को अपने कब्ज़े में करके इनको भूतल से मिटा देना चाहा। पंद्रहवीं शताब्दी में जब कुस्तुनतुनिया तुर्कों के हाथ आया तो विद्या-व्यसनी लोग यूनानी और रोमन दर्शन तथा सभ्यता की सभी पुस्तकें अपने साथ लेकर यूरोप में फैल गए। तब यूरोप में इन विद्याओं का अध्ययन नए सिरे से शुरू हुआ। इस आंदोलन को विद्याओं का पुनर्जन्म कहा जाता है। यदि इस समय पुरानी पेगन सभ्यता यूरोप में न फैलती तो विचार-स्वातंत्र्य और प्रकृति-प्रेम का वह भाव कभी न उत्पन्न होता जो यूरोप की वर्तमान उन्नति के अंतस्तल में काम करता है। इसी विचार-स्वतंत्रता के कारण मज़हबी सुधार का बड़ा आंदोलन हुआ। यह सुधार के सिद्धांतों का प्रचार था, जिससे अंत में फ्रांस की बड़ी क्रांति हुई। इसी आधार पर अब यूरोप में ऐसे विद्वान् विद्यमान हैं, जिनकी आँखें खुल गई हैं और जो ईसाई मज़हब के वर्तमान रूप से संतुष्ट नहीं हैं। वे ईसाई मत को बारह सौ साल का कूड़ा-करकट बताकर यूरोप से बाहर निकाल फेंकने के लिए तैयार हैं।

□

पंद्रहवाँ परिच्छेद

सिद्धांत

सैद्धांतिक और क्रियात्मक मज़हब

हमने मज़हब के इतिहास पर एक सरसरी दृष्टि डाली। अभी उनकी वास्तविकता को जाँचना बाकी है। मोटे तौर पर मज़हब के दो बड़े हिस्से हैं—एक क्रियात्मक, दूसरा सैद्धांतिक। पहले में लोगों के लिए हिदायतें और आदेश रहते हैं; उदाहरणार्थ—सच बोलना चाहिए, सबसे प्रेम करना चाहिए इत्यादि। दूसरे में वे सिद्धांत होते हैं, जिनको मानना मज़हब के अनुयायियों के लिए आवश्यक है; उदाहरणार्थ—ईश्वर एक है जो दुनिया को पैदा करता है; वह मनुष्य को खास तरीके पर सजा और जजा—दंड और इनाम—देता है इत्यादि।

जहाँ तक पहले भाग का संबंध है, सभी मज़हब एक जैसे हैं। कोई मज़हब नई बात नहीं सिखलाता। ईसाई प्रचारक कभी-कभी यह कहते हैं कि शत्रु से प्रेम करो, यह ईसा की नई शिक्षा है; परंतु ईसा से कई सदियों पूर्व गौतम बुद्ध ने इस सचाई को बड़े अच्छे ढंग से बताया था, 'आनंद! घृणा से घृणा दूर नहीं होती, वह तो प्रेम से दूर होती है।' यह बात केवल सिद्धांतों के विषय में है, जहाँ विभिन्न मजहबों के प्रकट रूप में एक-दूसरे से भिन्नता पाई जाती है। द्वेष रखने या झगड़ा पसंद करनेवाले मनुष्य के लिए तो ये मतभेद जीवन के लिए पर्याप्त कार्य प्रस्तुत कर देते हैं; परंतु गहरी नज़र से देखने पर मालूम होता है कि इन प्रकट भिन्नताओं के नीचे एकता की बड़ी लहर चल रही है, जो अंत में सबको एक ही स्रोत तक ले जाती है।

ईश्वर पर विश्वास

विभिन्न मज़हबों के लिए एक सिद्धांत, ईश्वर पर विश्वास, सबसे बड़ा है। इस विषय में प्राय: सभी सहमत हैं। ईश्वर क्या है, यह जानना तो असंभव है। इस विषय में भगवद्गीता (२/२९) में जो कुछ कहा गया है, वह सबसे बढ़कर है, 'कुछ लोग उसको आश्चर्य से देखते हैं। कुछ उसे आश्चर्य बतलाते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो उसे आश्चर्य से सुनते हैं; परंतु सुनते हुए भी उसे कोई नहीं जानता।'* हर एक मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार उसका एक नक्शा अपने मन में बना लेता है। संसार में जहाँ थोड़ी सी एकता है वहाँ भिन्नता इतनी है कि हर एक मनुष्य शक्ल-सूरत इत्यादि में शेष सभी मनुष्यों से भिन्न है। कई बार आदमी सिर्फ चाल से पहचाना जाता है। हर एक की चाल जुदा-जुदा होती है। हर एक की अक्ल भी अलग-अलग है। इसलिए ईश्वर भी प्राय: सबके लिए भिन्न-भिन्न है। ईश्वर के बारे में असभ्य और सभ्य मनुष्यों की धारणाओं में कितना अंतर है।

अफ्रीका के उस जंगली, जो नंगा रहता है, से पूछिए कि ईश्वर क्या है? वह अँगुली से ऊपर इशारा कर देता है। उसकी बुद्धि इतनी ही है। उसकी तुलना में बौद्ध दार्शनिक है, जो अपनी अक्ल को दौड़ाता है और ईश्वर का कोई रूप मन में नहीं ला सकता। उसकी दृष्टि में एक मनुष्य, जो निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है, शुद्ध हो जाता है वही उसका ईश्वर है। पारसी मतवाले प्रकाश की शक्ति को ही ईश्वर मानते हैं, जिसका प्रकट रूप सूर्य है। पुराने पेगन (रोम व यूनान के लोग) प्राकृतिक शक्तियों को ईश्वर या देवता मानते हैं। सेमेटिक मत ईश्वर को एक बड़ा सम्राट् समझते हैं, जो संसार पर शासन करता है और उसे चलाता है। उपनिषद्कार ऋषि उसे ब्रह्म कहता है, जो ब्रह्मांड के अंदर से काम करते हुए उसे चलानेवाली एक चेतन-शक्ति है। यह प्रश्न, 'क्या तुम ईश्वर को मानते हो?' जो हर एक ही जिह्वा पर है, वास्तव में तब तक निरर्थक है जब तक यह निश्चय न कर लिया जाय कि ईश्वर के लक्षण क्या हैं?

ईश्वर से मनुष्य का संबंध

दूसरा सिद्धांत ईश्वर के साथ मनुष्य के संबंध के बारे में है। आमतौर पर सभी मज़हब किसी-न-किसी प्रकार इसके साथ अपना संबंध जोड़ते हैं। कोई उसे

---

* आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य:।
आश्चर्यवच्चैनमन्य: शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

शासक समझते हैं और उसकी प्रशंसा तथा खुशामद करना आवश्यक समझते हैं, जैसे प्रजा अपने अधिकारी या बादशाह को प्रसन्न करने के लिए करती है। इस कारण विभिन्न मज़हबों ने विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाएँ और इबादत के तरीके निश्चित कर रखे हैं। यह एक बिलकुल दूसरी बात है कि ऐसे तरीकों से सामाजिक प्रेम व सामुदायिक संगठन पैदा होता है। यह मज़हबी बात नहीं, बल्कि सामाजिक मामला है। इसी दृष्टिकोण से उसको पहुँचने के लिए या उससे अपराध क्षमा करवाने के लिए उसके किसी मित्र या संबंधी की सिफारिश की जरूरत पड़ती है, नहीं तो गुनाह करके उसके क्रोध की आग से बचना मुश्किल समझा जाता है। इनके विपरीत आर्य शास्त्र यह कहते हैं कि हमारा काम इतना ही है कि उसे अनुभव करें। यह अनुभव ज्ञान, ध्यान आदि के मार्गों से प्राप्त होता है। भगवद्गीता के अध्याय नौ के श्लोक ३०[१], ३१[२] और ३२[३] तथा अध्याय आठ के श्लोक १३[४] में कहा गया है, 'कोई आदमी चाहे कैसा ही पापी हो, जब उसने मेरी ओर आने का निश्चय कर लिया तब वह शीघ्र ही सुधर जाता है। मेरी शरण में आने से पापी, शूद्र, वैश्य और स्त्री—सभी सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं।'

मुक्ति का स्वरूप

तीसरा सिद्धांत मुक्ति का है। ऐसा मालूम होता है कि पैगंबरी या सेमेटिक मज़हबों ने आध्यात्मिक संसार का चित्र अपने सामने भौतिक संसार को रखकर बनाया है। रूपक के तौर पर इस चित्र का कुछ अर्थ हो सकता है; परंतु यदि यह कोरी कल्पना है तो फिर इन सिद्धांतों की खातिर लड़ाई-झगड़े और युद्ध की क्या जरूरत? उस कल्पना चित्र को अक्षरशः सही मानने से कई दोष पैदा हो जाते हैं। यदि सचमुच कोई बहिश्त या दोज़ख, स्वर्ग या नरक है, तो वह इस दुनिया के कैदखानों आदि की नकल या तो खुदा ने बनाई है या फिर उन लोगों ने खुदाई दस्तूरों पर चलने का प्रयत्न किया है। बहिश्त के बारे में विचार करने पर मालूम

---

१ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

२ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

३ मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

४ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

होता है कि हर एक देश और हर एक मज़हब के लोग अपने अपने विचारो तथ परिस्थिति के अनुसार उसका चित्र बना लेते हैं . नॉर्वे आदि देशो के लोग स्वर्ग को रीछों से भरा हुआ समझते हैं, ताकि उन्हें वहाँ रीछ का शिकार करने का आनंद प्राप्त हो। अरब के लोग उसे नहरों, हूरों आदि से भरा हुआ बताते हैं, क्योंकि उन्हें यही चीजें पसंद आती हैं। फिर बताया जाता है कि कयामत के दिन सब मुरदे जिंदा हो जाएँगे और बहिश्त में दाखिल होनेवालों को अपने मित्रों व संबंधियों से मिलने का आनंद प्राप्त होगा। प्रथम तो वह बहिश्त बहुत ही बड़ी जगह होगी, जिसमें सब लोग आ जाएँगे। दूसरी बड़ी मुश्किल यह होगी कि हर व्यक्ति, जो किसी का बेटा होगा और किसी का बाप, कौन सी उम्र में फिर जीवित किया जाएगा, ताकि माँ-बाप को बेटे की सूरत में और दादा-दादी को पोते की सूरत में, अपने बेटे को बाप की सूरत में और पोते को दादा की सूरत में दिखाई देगा? इसीलिए प्रसिद्ध शायर गालिब ने कहा है—

> 'हमें मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन,
> दिल को बहलाने को गालिब यह खयाल अच्छा है।'

जो लोग ईश्वर को एक महान् शक्ति समझते हैं, उनके लिए इस शक्ति से दूर होना अज्ञान है और अज्ञान दु:ख है। उसके निकट रहना ज्ञान है और ज्ञान सुख है। इसलिए ईश्वर के चरणों में सदा रहना ही उनकी मुक्ति है। एक वेदमंत्र में कहा गया है, 'उसको जानकर ही हम मृत्यु के समुद्र से पार हो सकते हैं। इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं।'[१]

उत्पत्ति का विषय

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में कुरान में कहा गया है कि खुदा ने जब कुन शब्द कह दिया तो सबकुछ बन गया। बाइबिल में बताया गया है कि पहले केवल शब्द था और शब्द खुदा के साथ था, उससे संसार प्रकट हुआ। मैक्समूलर ने अपने वेदांत विषयक व्याख्यानों में दिखलाया है कि अंग्रेजी शब्द 'वर्ड' संस्कृत धातु से निकला है जिसका अर्थ 'बोलना' है। इसी से 'ब्रह्म' शब्द बना है और यह ब्रह्म ही संसार का आरंभ है। भगवद्गीता के अध्याय आठ के श्लोक १३[२] में कहा गया है,

---

१. 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' *(श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६/१५)*

२. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

एक शब्द—'ओं'—इस ब्रह्मांड को प्रकट करता है।' अध्याय चौदह के श्लोक ३[१] में बताया गया है, 'महत् ब्रह्म मेरी योनि है। मैं इसमें बीज डालता हूँ और उससे सबकुछ उत्पन्न होता है।' मनुस्मृति में इसे अंडे के समान बताया गया है। इसी कारण संसार को ब्रह्मांड कहा जाता है।

भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक १४[२] और १५[३] में आया है, 'ब्रह्म से वेद, वेद से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से बादल, बादलों से अन्न और अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं।' मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्म दो भागों में विभक्त हुआ—आधा नर और आधा मादा।[४] तौरेत में हव्वा का आदम के पहलू से पैदा किया जाना उसी कल्पना का वैसे ही शब्दों में वर्णन करता है। इस मसले—विचारणीय विषय—के अंतस्तल में काम करनेवाला विचार भी एक ही स्रोत से निकला मालूम होता है।

बुराई का आरंभ

एक और बड़ा प्रश्न, जो मत-प्रणेताओं और दार्शनिकों को घबरा देनेवाला है, बुराई के जन्म का है। यूनानी दर्शन में इस विषय में बहुत से सिद्धांत स्थापित हो गए थे। बाइबिल और इसलाम का खयाल तो इस बारे में एक ही है—उत्पत्ति की एक लंबी कहानी बनाकर पाप का अस्तित्व शैतान के सिर मढ़ दिया जाता है। शैतान ने आदम को नमस्कार करने से इनकार किया। उसे खुदा की अवहेलना करने के कारण बहिश्त से गिरा दिया गया तो उसने इनसान को गुमराह करने पर कमर कस ली। यहूदियों ने यह विचार पुराने ईरानियों से लिया।

ईरानी लोग दुनिया में दो खुदा मानते थे—आहरमज्द (प्रकाश का देवता) और आहरमन (अँधेरे का देवता)। इस संसार में इन दोनों में परस्पर युद्ध रहता है। एक अच्छाई उत्पन्न करता है, दूसरा बुराई। यह मत हिंदू सिद्धांत से इस प्रकार मिलता है कि हिंदू शास्त्र ब्रह्म को मानकर संसार में दुःख का कारण माया या अज्ञान को समझते हैं। पारसी लोगों ने ब्रह्म के मुकाबले पर अँधेरे की हर शक्ति कल्पित

---

१ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

२ अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

३ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

४ द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥ *(मनुस्मृति, १/३४)*

कर ली यह माया ही आहरमन की शक्ल अख्तियार करके बाद में शैतान का रूप धारण कर लेती है। भगवद्गीता के अध्याय सात के श्लोक १३[१], १४[२] और १५[३] में कहा गया है, 'यह संसार माया के तीन गुणों से ढँपा हुआ है। जो लोग इस माया में फँस जाते हैं, वे मुझ तक नहीं पहुँच सकते। मुझे वही पाते हैं, जो मेरी इस माया को पार कर जाते हैं।'

बलि का विचार

कुरबानी एक और विचारणीय विषय है। यहूदी लोग अपने खुदा को प्रसन्न करने के लिए शुरू से ही जानवरों की कुरबानी करते आए हैं। इसलाम भी कुरबानी—बलि—को वैसा ही आवश्यक समझता है। ईसाई कुरबानी को जरूरी समझते हैं; परंतु इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि मनुष्यमात्र से कुरबानी का बोझ उतारने के लिए खुदा ने अपने इकलौते बेटे ईसा को कुरबान कर दिया। साधारण बुद्धि में भी यह बात नहीं आ सकती कि किसी जीव को मार देने से खुदा को क्या आनंद प्राप्त हो सकता है या किसी प्राणी को मारने का खुदा की प्रसन्नता से संबंध ही क्या हो सकता है? आश्चर्य यह है कि कई हिंदुओं ने भी 'यज्ञ' शब्द का अर्थ उलटा समझकर पशुओं की बलि को भी यज्ञ का एक आवश्यक अंग ठहराया। यह नहीं कहा जा सकता कि यज्ञ के अर्थ में यह बदलाव कब और किस प्रकार के लोगों के कारण हुआ। प्राय: वाम मार्ग मत पर यह दोष लगाया जाता है। भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक ९[४], १०[५], १२[६] और १३[७] तथा अध्याय चार

---

१ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

२ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

३ न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

४ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

५. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

६ इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

७ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

के श्लोक २६[1] और २७[2] आदि में स्पष्ट रूप से परोपकार तथा निस्स्वार्थ कामों को यज्ञ नाम दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि सबसे बड़ा यज्ञ मनुष्य के अंदर अपने लिए पशु-प्रकृति को मारना था। अध्याय तीन के श्लोक १४[3] में कहा गया है, 'प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न करने के लिए स्वयं बड़ा यज्ञ किया है। तुम भी इस यज्ञ के द्वारा फूलो-फलो।'

मज़हबों के अंदर करामातें, चमत्कार, भविष्यवाणियाँ आदि प्राकृतिक नियम के विरुद्ध बातें मज़हब की सचाई के सबूत के रूप में पेश की जाती हैं। इससे केवल इतना ही प्रकट होता है कि मज़हब पर विश्वास रखनेवाले लोगों की अधिकतर संख्या ऐसी होती है, जिनके दिमाग में अभी तक सच और झूठ जाँचने की ताकत पैदा नहीं हुई। प्रथम तो वे हर एक सुनी-सुनाई किस्सा-कहानी पर तुरंत विश्वास कर लेते हैं। उनको यह विचार नहीं आता कि जब संसार में इतना झूठ बोला जाता है तो कहीं कहनेवाला झूठ ही तो नहीं कह रहा, या यह कि जब लोगों की समझ बहुत कम है तो संभव है कि उसकी आँखों या समझ ने धोखा खाया हो, या यह कि जैसे कई लोगों की वैचारिक शक्ति बहुत जोरदार होती है, तो संभव है कि वह अपने विचार को ही घटनाओं के रूप में बता रहा हो, या सबसे बढ़कर यह संभव है कि उसको बतानेवाला उसे धोखा देता हो। जब कोई खेल करनेवाला मदारी हमारे सामने ऐसे करतब करता है तो हम समझ लेते हैं कि हमारी नजर का धोखा था। परंतु मज़हबी शर्तें करनेवाला व्यक्ति जब अचंभा सा करता है तो वह हमारे लिए बड़ा चमत्कार हो जाता है। जब मूसा ने मिस्र के बादशाह के सामने चमत्कार किए तो वहाँ के विद्वानों को बता दिया कि मेरे हाथ के मामूली करतब थे, जिन्हें वे भी कर सकते थे। दूसरी बात उनके अंदर एक मिलावट या चालाकी होती है। जैसे कि खेल-तमाशों में तमाशा करनेवाला किसी-न-किसी व्यक्ति को अपने साथ मिला लेता है, उसी प्रकार मजहबी आंदोलन चलानेवाला किसी-न-किसी को अपने भेद में शामिल कर लेता है, जिससे हर चमत्कार और भविष्यवाणी सफल हो सकती है। जब कहा जाता है कि ईसा कब्र फाड़कर आसमान में उड़ गया,

---

१ श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

२ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

३ अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

उसके प्रमाण के तौर पर यह पेश किया जाता है कि एक दो बूढी औरतो ने देखा इन दो औरतों की गवाही एक तरफ है और एक असंभव बात दूसरी तरफ। इस गवाही के आधार पर सुनते-सुनाते सारा ईसाई जगत् इस कारामात पर विश्वास करता है। मज़हबी नेता इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि ये सारे काम उन लोगों के द्वारा करवाएँ, जिनकी अक्ल पर परदा डाल दिया गया होता है, वे स्वयं जनसाधारण के साथ प्रत्येक के संपर्क में नहीं आते। एक बात कही जाती है, जो याद रखनी चाहिए—कुछ आदमियों को हमेशा के लिए धोखे में रखा जा सकता है। सब लोगों को कुछ देर के लिए धोखा दिया जा सकता है; परंतु सभी को सदा के लिए धोखे में नहीं रखा जा सकता।

रीतियाँ या संस्कार

मज़हब के साथ मिली हुई एक चीज संस्कार है, जो जीवन में परिवर्तन पैदा कर सकता है। एक पत्थर पहाड़ पर पड़ा है। वहाँ उसकी कोई हैसियत नहीं। जब उसे वहाँ से लाकर सड़क पर डाल दिया जाता है तो उसकी हैसियत बदल जाती है। उस पर थोड़ा काम करके जब उसे दीवार में लगाते हैं तब वह एक लाभकारी चीज बन जाती है। उसे तराशकर सुंदर मूर्ति बना देने पर लोग उसके सामने सिर झुकाना शुरू कर देते हैं। पत्थर में ये परिवर्तन संस्कार के कारण पैदा हुए।

हर एक मज़हब ने खास-खास रस्में या रीतियाँ और संस्कार आवश्यक ठहराए हैं। हिंदू समाज में वर्ण-व्यवस्था प्राचीन समय से चली आ रही है, जैसा भगवद्गीता में कहा गया है, 'ये वर्ण मुझसे बने हैं। हर एक मनुष्य अपने-अपने कर्म के अनुसार विशेष वर्ण में प्रविष्ट होता है।' अध्याय अठारह के श्लोक ४१[१], ४२[२], ४३[३] और ४४[४] में वर्ण-धर्म के संबंध में बड़ी उच्च कोटि की शिक्षा मिलती है। यों तो संस्कार सोलह हैं, परंतु इनमें से चार मुख्य माने गए हैं—पहला गर्भाधान, दूसरा यज्ञोपवीत, तीसरा विवाह और चौथा मृतक- संस्कार। गर्भाधान संस्कार, जो

---

१ ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

२ शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

३ शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्॥

४ कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

स्त्री पुरुष के सयोग के समय वेदमत्रो के साथ होना चाहिए, यह प्रकट करता है कि वह कर्म भोग मात्र की इच्छा से नहीं, बल्कि संतानोत्पत्ति को धर्म समझकर किया जा रहा है, ताकि जो संतान हो वह विषय-भोग का परिणाम न हो, धर्म का फल हो। दूसरा प्रमुख संस्कार 'यज्ञोपवीत' गुरु के पास जाने के समय किया जाता था। बच्चे का विद्यारंभ एक नए जन्म के समान था। तीसरा बड़ा संस्कार विवाह विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद गृहस्थ-प्रवेश के समय किया जाता था। चौथा संस्कार मृतक संस्कार था, जिसमें मृत शरीर औषध सहित जला दिया जाता था। आज के मेडिकल विज्ञान और स्वास्थ्य ज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मुरदे को जला देना ही उसे दूर करने का सबसे अच्छा तरीका है। पश्चिमी देशों के नगरों में कब्रिस्तानों की संख्या इतनी अधिक हो गई है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए बड़ा खतरा साबित हो रहे हैं और लोकमत मुरदा जलाने के पक्ष में हो रहा है।

मज़हबों के मुकाबले पर हिंदुओं का प्रयत्न

सभी मज़हबों के सिद्धांत आरंभ में प्रायः एक जैसे ही होते हैं। उनको मानने के तरीकों की दृष्टि से दो बड़े समूह स्पष्ट नजर आते हैं। एक तो सेमेटिक या पैगंबरी समूह और दूसरा आर्य। सेमेटिक विचार यहूदी कबीले के खानदानी किस्सों और उसके हसब-नसब के सिलसिले पर आश्रित हैं। यहूदी लोग अपने कवियों, जिन्हें वे पैगंबर कहते थे (दोनों शब्दों का अर्थ एक दृष्टि से एक ही है), को खास तौर पर अपना समझते थे। अन्य लोगों को वे कभी अपने कबीले में शामिल नहीं करते थे। आश्चर्य की बात है कि एक कबीले की परंपराओं को (पुरानी दुनिया में हर एक कबीले की अपनी-अपनी परंपराएँ होती थीं) ईसाई और इसलामी दुनिया ने सभी मनुष्यों के लिए ठीक मान लिया है।

इसके मुकाबले पर केवल हिंदू जाति है, जिसने प्राचीन आर्य नस्ल की सभ्यता को बचाए रखा है। सबसे पहले उसको बौद्ध मत का मुकाबला करना पड़ा। एक हजार वर्ष तक दोनों का पारस्परिक संघर्ष जारी रहा। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के प्रयत्न से वैदिक धर्म की विजय हुई—अधिकतर इस कारण कि बौद्ध मत में कोई खास नई बात नहीं थी। बौद्ध मत ने प्रायः सबकुछ प्राचीन सभ्यता से लिया था। ज्यों ही वह इससे निवृत्त हुआ, हिंदू धर्म को इसलाम का मुकाबला करना पड़ा। इसलाम की एक लहर अफ्रीका से होकर यूरोप गई और दूसरी मिस्र, ईरान और अफगानिस्तान को विजित करती हुई इधर हिंदुस्तान में आई। यह संघर्ष लगभग आठ सौ वर्षों तक जारी रहा। इसमें पंजाब, राजपूताना और महाराष्ट्र ने धर्म

की रक्षा के लिए त्याग किया और वीरों के बलिदान में विशेष रूप से भाग लिया राणा प्रताप, गुरु गोविंद सिंह, शिवाजी इत्यादि के विषय में ज्यादा कहना व्यर्थ जैसा है। इस देश के सभी लोगों को मालूम है कि इन लोगों ने धर्म की रक्षा करने के लिए कितनी ही मुसीबतों का सामना हँसते हुए किया था।

पंजाब में लाहौर नगर सदा के लिए स्मरणीय रहेगा, जहाँ चने बेचनेवाला एक लड़का पैदा हुआ, जिसका बेटा गुरु अर्जन देव और पोता गुरु हरगोविंद हुए। सदियों से बहती हुई हमलों की नदी को रोकने का उपाय गुरु तेग बहादुर ने बलिदान बताया। उसी पर आचरण करके गुरु गोविंद सिंह ने चिड़ियों को बाज बना दिया। गुरु गोविंद सिंह ने अपने पिता के बलिदान का वर्णन अत्यंत सुंदर शब्दों में किया, 'कीनों बड़ो कलु में साका, तिलक जंजु राखा प्रभु ताका।' कई लोग एक - दो दृष्टांत देकर यह साबित करते हैं कि हिंदुओं ने गुरुओं का विरोध किया। गुरुओं ने हिंदुओं के अंदर कार्य किया। स्वाभाविक था कि उनके मित्र व शत्रु इस समाज में से निकलें। उनकी अपनी संतान में से भी उनके कठोर विरोधी पैदा हुए।

इन दिनों ईसाई मज़हब हमारी युगों से बची आ रही प्राचीन सभ्यता को मिटा देने की कोशिश अपनी पूरी ताकत से करता आ रहा है। यूरोपीय जातियों ने अपने पूरे उत्कर्ष को ईसाइयत की मदद से नियोजित कर दिया है। इस कारण हिंदुत्व और ईसाइयत का संघर्ष लगातार जारी है। हम हिंदुत्व को ईसाइयत का मुकाबला डटकर करते हुए देख रहे हैं।

☐

सोलहवाँ परिच्छेद

आत्म-स्वतंत्रता

दैव और पुरुषार्थ

दैव और पुरुषार्थ अर्थात् तकदीर व तदबीर का विषय बड़ा पेचीदा है। ईसाई संप्रदाय मनुष्य को काम करने में स्वतंत्र मानता है तो प्रसिद्ध ईसाई सुधारक काल्विन के अनुयायी नियति या दैव में विश्वास रखते हैं। इसलाम के बड़े हिस्से का विश्वास तकदीर पर है। संसार के दो बड़े सेनानायक सीजर और नेपोलियन दैव में विश्वास रखते थे। नेपोलियन से एक बार प्रश्न किया गया, 'जब आप भाग्य पर इतना विश्वास रखते हैं तब इतना काम और उसकी तदबीरें क्यों करते हैं?' उसने उत्तर दिया, 'यह सब भी मुझसे मेरा भाग्य करवाता है। ऐसा करने के लिए मैं बाध्य हूँ।' तथापि मनुष्य के अंदर एक चिंतन है, जो काम करते समय सदा से प्रतीत कराता है कि करनेवाली जिम्मेवार शक्ति 'मैं' ही हूँ।

मनुष्य स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी

हिंदू शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है और परतंत्र भी। कर्म तीन प्रकार के हैं—प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित। पहले वे हैं, जो हमने या हमारे संबंध में दूसरों ने किए हैं और जिनका फल भोगने के लिए हम विवश हैं। क्रियमाण कर्म वे हैं, जो किए जाने पर ही अपना फल देते जाते हैं। तीसरे प्रकार के—संचित कर्म वे हैं जो हम करते हैं और जिनका फल जमा रहता है, अपने समय पर आकर प्रकट होता है।

भीष्म पितामह से प्रश्न किया गया, 'दैव बलवान् है या पुरुषार्थ?' उन्होंने

बड़ा गूढ़ उत्तर दिया ध्यान देने पर मालूम होता है कि ये दोनो वास्तव मे एक ही हैं। दैव या तकदीर उस छिपी हुई शक्ति का नाम है जिसका एक प्रकट रूप पुरुषार्थ या तदबीर है।' एक व्यक्ति ने सुना कि खुदा मनुष्य को, वह जहाँ भी हो, जीविका पहुँचा देता है। वह मसजिद के अंदर जाकर एक गहरे गड्ढे में तीन दिन तीन रात तक छिपा बैठा रहा। चौथी रात वह भूख के मारे मरने लगा। जब सब लोग उठकर चले गए तो वह तंग आया हुआ उठा। उसका सिर एक चटाई से लगा और वह हिली, जिसे देखकर मुल्ला दौड़ा आया। गड्ढे में एक आदमी है, यह देखकर उसने उसे बाहर निकाला और खाना-पीना दिया। इस पर वह कहने लगा, 'खुदा जीविका पहुँचाता तो है, किंतु उसके लिए चटाई हिलाना भी जरूरी शर्त है।'

हमारा प्रारब्ध तीन बड़े अंगों से बना है। उनमें से एक प्राकृतिक नियमों का है। हमने मानव शरीर धारण कर रखा है, यह हमारा प्रारब्ध है। इस पर हमारा कोई अधिकार नहीं। हम सभी दिशाओं में प्रकृति की शक्तियों से घिरे हुए हैं। हम उनका मुकाबला नहीं कर सकते। हम कितना ही चाहें और यत्न करें, पर अपनी शक्तियों को असीम नहीं बना सकते। हम चाहें तो उड़ नहीं सकते, आग में हाथ नहीं डाल सकते, तैरना जानते हुए भी गहरे पानी में नहीं जा सकते। हमारी आयु एक विशिष्ट सीमा से बढ़ नहीं सकती। हम मिट्टी या पत्थर खाकर जीवित नहीं रह सकते। खास स्थितियों में हमारा शरीर रोगों का शिकार बन जाता है। कर्म करने पर उनका फल हमें भोगना ही पड़ता है। थोड़ा अधिक या गलत ढंग का खाना खा लेने से बदहज़मी जरूर होती है, व्यायाम न करने पर शरीर निर्बल और सुस्त होता है। ऐसी ही अन्य प्राकृतिक अवस्थाएँ हैं, जिनसे ऊपर हम नहीं जा सकते।

पैतृक गुणों का प्रभाव

प्रारब्ध का दूसरा अंग हमारी विरासत है। यह हम अपने माता-पिता से विरासत में लेते हैं। इस विरासत में न केवल शारीरिक रोग सम्मिलित हैं, बल्कि बहुत हद तक नैतिक गुण भी। हमारे स्वभाव और आदतों में बहुत सा भाग हमारे माता-पिता का होता है। इसी कारण हिंदू शास्त्र गर्भाधान संस्कार को आवश्यक बतलाते हैं। इसके साथ ही वे माता के लिए अपनी इच्छा के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि संतान उत्पन्न करने के लिए विशेष निर्देश देते हैं।

चिकित्सा विज्ञान की उन्नति से यह सिद्ध हो गया है कि हमारे लगभग सारे नस-रोग माता-पिता से विरासत में मिलते हैं। इसी आधार पर अमेरिका के कई राज्यों में यह कानून बनाने की प्रथा शुरू हो गई कि पागलों और शराबखोरों की

संख्या आगामी पीढ़ी में रोकने के लिए ऐसे लोगों की संतान पैदा करने की क्षमता को समाप्त कर दिया जाता है।

परिस्थिति

प्रारब्ध का तीसरा अंग इर्द-गिर्द के हालात या परिस्थिति है। जापानी बालक क्यों खास जापानी मालूम पड़ता है? उसका रंग-रूप क्यों जापानी है? वह जापान से क्यों प्रेम करता है? जापान के लिए जीवित रहने और मरने में क्यों गर्व समझता है? केवल इस कारण कि उसके इर्द-गिर्द की परिस्थिति ने उसे ऐसा बना दिया है। इस बात को उसने सोच-विचारकर चुना या पसंद नहीं किया।

हमारे जीवन और हमारे दिमागों की बनावट में हमारी भूमि, हमारा समाज, शासन और दूसरी संस्थाओं का बड़ा भाग होता है। हम एक विशिष्ट देश में पैदा होते हैं, जिसका जलवायु, खुराक और भाषा विशेष प्रकार की है। हमने एक विशेष जाति में जन्म लिया, जिसका एक खास इतिहास है, मज़हब है, परंपराएँ हैं। हमारा जन्म हुआ एक विशेष समाज में, जहाँ बचपन की शिक्षा के बारे में एक खास दृष्टिकोण है और जिसमें विशेष रीतियाँ प्रचलित हैं। इन सब चीजों पर हमारा कुछ वश नहीं होता।

हरबर्ट स्पेंसर ने देखा कि सरलता और दूसरे नैतिक गुणों में कई जंगली कबीले सभ्य जातियों से अच्छे हैं। उसके सामने यह प्रश्न उठा कि कौन सी चीज नैतिक शक्ति पैदा करती है? खोज करने के बाद वह इस परिणाम पर पहुँचा कि जो जंगली कबीले सर्वथा सरदारों के शासन में रहते हैं, वे डर के कारण खुशामदी, झूठे और धोखेबाज होते हैं। जिनके ऊपर कोई ऐसा सरदार नहीं होता, वे स्वतंत्रता में रहकर सरल, निर्भीक और ईमानदार बन जाते हैं।

राष्ट्रों की अवस्था में प्रायः स्वतंत्र गवर्नमेंट राष्ट्र के नैतिक आचार को ऊँचा और एकतंत्र गवर्नमेंट निम्न बना देता है। यही हाल स्कूल के अंदर बच्चों का होता है। यदि अध्यापक डराने और मारनेवाला हो तो बच्चे स्वभावतः झूठे हो जाते हैं। प्रेम करनेवाला अध्यापक होने पर वे नेक और सत्यवादी बनते हैं। सभी गुणों की जननी दिलेरी है, जो खराब परिस्थिति के अंदर कभी पैदा नहीं हो सकती। आयरलैंड या इटली में रहते हुए गरीब मजदूर वैसे-के-वैसे दरिद्र और दब्बू रहते हैं। वहीं तुच्छ समझे जानेवाले आदमी जब अमेरिका की भूमि पर कदम रखते हैं, महीना बीतते-बीतते उनका रहन-सहन बदल जाता है और वे स्वयं को बादशाह के समान समझने लगते हैं।

स्वतन्त्रता क्या है?

भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक २६[१], २७[२] और २८[३] में, अध्या पाँच के श्लोक ७[४], ८[५] और ९[६] में, अध्याय तेरह के श्लोक २९[७] में, अध्या चौदह के श्लोक १९[८] में तथा अध्याय अठारह के श्लोक ५९[९] और ६०[१०] में क गया है, 'यह संसार प्रकृति के गुणों का एक खेल है।' अध्याय ग्यारह के श्लो २८[११] और २९[१२] में तो स्पष्ट कह दिया गया है, 'जैसे नदियाँ समुद्र की तरफ बह हैं और पतंगा मजबूर होकर दीये की रोशनी पर जल मरता है वैसे ही ये सब यो अपने सर्वनाश के हेतु मेरे मुँह में आ रहे हैं।' वास्तव में हम कर्म करनेवाले नहीं बल्कि प्रकृति हमसे कार्य कराती है। अठारहवें अध्याय में कहा गया है, 'हे अर्जु तुम लड़ाई से कभी हट नहीं सकते। तुम्हारा स्वभाव ही तुमसे युद्ध कराएगा।'[१३]

---

१ न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

२ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

३ तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

४ योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

५ नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥

६ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

७ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

८ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

९ यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

१० स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

११ यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥

१२ यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

१३ यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

भगवद्गीता जहाँ सब मनुष्यों को प्रकृति के अंदर बँधा हुआ बताती है वहाँ उसके तीसरे अध्याय के श्लोक १९ से लेकर २५[१] तक के श्लोकों में यह बात बतलाई गई है, 'फल की इच्छा का त्याग कर देनेवाला ज्ञानी वास्तविक स्वतंत्रता को प्राप्त करता है; इसलिए तुम अपना मन भटकाए बगैर इस कर्म में लग जाओ।' इसी प्रकार अध्याय चार के श्लोक १४ से १९[२] में कहा गया है, 'इन कर्मों का कोई असर मुझ पर नहीं होता। जो मुझको जान लेता है वह भी कर्म के फंदे से बच जाता है। जैसे आग बीज के उगने की शक्ति को नष्ट कर देती है, ऐसे ही ज्ञान कर्म के अंदर फैलने की शक्ति को नष्ट कर देता है।' जिस मनुष्य में कर्म-रूपी बीज जल गया हो, वही कर्म के फंदे से मुक्त होकर स्वतंत्र हो सकता है।

---

१ तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

२ न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

सर्वज्ञता

जो लोग ईश्वर को सगुण मानते हैं, उनके सामने एक और बड़ी कठिनाई आती है। ईश्वर के गुणों में सर्वज्ञता एक विशेष गुण माना जाता है। इस गुण ने देर से मज़हबों के नेताओं में एक हलचल मचा रखी है। वह इस प्रकार—अगर परमात्मा सर्वज्ञ है तो उसे होनेवाली हर बात का ज्ञान है, इसलिए वे कर्म भी, जो आगामी जीवन में हम करेंगे, उसे ज्ञात होते हैं। इस प्रकार जिस चीज का कोई अस्तित्व इस समय नहीं, वह भविष्य के उसके ज्ञान में अस्तित्व रखती है। यदि वह किसी मनुष्य का ज्ञान होता तो निस्संदेह इसका हमारे उन भावी कर्मों के करने या न करने पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता था; परंतु परमात्मा का ज्ञान अटल और दोष-रहित है, अर्थात् जो कुछ उसके ज्ञान में विद्यमान है, वह जरूर घटित होगा। इस स्थिति में मनुष्य बिलकुल परतंत्र यानी विवश हो जाता है। यह कहना कि ईश्वर केवल उसी को जानता है जो हम अपनी स्वतंत्रता से करेंगे, दो परस्पर विरोधी बातें एक साथ करना है। यदि हम कर्म अनिवार्य रूप से करेंगे तो उनका 'स्वतंत्रता से करना' निरर्थक है। अगर मनुष्य बिलकुल परतंत्रता से कर्म करता है तो उसके लिए पुण्य और पाप का कुछ अर्थ नहीं रहता। मज़हबों के प्रणेता दोनों तरफ बड़ी कठिनाई में पड़ जाते हैं। इसका कोई हल उन्हें नहीं मिलता।

वस्तुत: हमें ईश्वर के अस्तित्व—वह क्या है?—और उसके गुणों का कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए उनको विचार में लाना या उन पर वाद-विवाद करना हमारे सामर्थ्य से बाहर है। अपनी कल्पना से विशेष गुण उसके अंदर डालकर हम अपने लिए मुश्किल पैदा कर लेते हैं। स्वामी शंकराचार्य[१] कहते हैं कि ज्ञान के लिए ज्ञाता (जाननेवाला) और ज्ञेय (जानने योग्य चीज)—इन दो की जरूरत है। ब्रह्म की दृष्टि से आत्मा एक ही है। इस कारण ज्ञेय के न होने से ज्ञान का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। भगवद्गीता के अध्याय तेरह के श्लोक १७ में भी यही विचार है, 'मैं ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान हूँ।'[२]

अध्याय ग्यारह के श्लोक ४०[३] में कहा गया है, 'तू सबमें है, इसलिए सब तू ही है।' ईश्वर की सर्वव्यापकता का क्या अर्थ है? जो वस्तु सर्वव्यापक है वही

---

१ दे. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, अनंत कृष्ण शास्त्री द्वारा संपादित (सन् १९१७), पृ. ९१।

२ ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमस: परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

३ नम: पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व:॥

सर्व या सब है। ज़र्रे-ज़र्रे के अंदर वह है। परमाणु के अंदर वह है। क्या कोई चीज हो सकती है, जिसमें वह न हो? यदि कुछ नहीं तो सबकुछ वही है। सर्वव्यापकता का यह गुण भी हमारे लिए मुश्किल पैदा कर देता है।

परिस्थिति पर विचार

यदि सामाजिक और चारों ओर की परिस्थिति का ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो उसके अंदर भी मनुष्य की स्वतंत्रता का बड़ा भाग मिलता है। प्रथम तो यदि सामाजिक और भौगोलिक अवस्थाएँ मनुष्य को बनाने में बड़ा हाथ रखती हैं तो इसका अर्थ यही है कि इस सामाजिक समूह में सम्मिलित होने से समाज का हर सदस्य भी शेष सब पर अपना प्रभाव डालता है। इस प्रभाव का परिणाम हर सदस्य की व्यक्तिगत हैसियत पर अवलंबित है। ऐसे मनुष्यों के उदाहरण मिलते हैं जो गुलामों के समाज में पैदा हुए और उन्होंने अपने समाज से गुलामी के प्रभाव को दूर कर दिया। एक-एक आदमी के स्वार्थ या ईर्ष्या अथवा उनके विपरीत त्याग ने इस जाति के आनेवाले इतिहास को बिलकुल पलट दिया। रघुनाथ राव की स्त्री नंदीबाई की ईर्ष्या ने जयचंद के समान मराठा साम्राज्य का विनाश कर दिया। लूथर ने बाइबिल की एक प्रति पढ़कर कैथोलिक संप्रदाय के विरुद्ध सुधार-आंदोलन की नींव रखी। यद्यपि वह स्वयं एक मामूली भिक्षु था। एक बार तो उसने ईसाइयत को उसकी जड़ों से हिला दिया। स्वामी दयानंद मूर्तिपूजा करनेवाले ब्राह्मणों के यहाँ पैदा हुए। शिवरात्रि की रात को चूहों ने शिव की मूर्ति का अपमान किया। इस घटना का प्रभाव स्वामीजी के मन पर पड़ा कि हिंदू जाति में क्रांति आ गई। यही नहीं, जब एक साधारण मनुष्य भी अधर्म या पाप के लिए सजा पाता है तो उसके परिवारवालों, मित्रों और कारोबार के संबंधों पर कई दृष्टियों से प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त हर आदमी अपने समाज और परिस्थिति को जब चाहे तब बदल नहीं सकता।

विरासत ही सबकुछ नहीं है

यदि विरासत और परिस्थिति ही सबकुछ होते तो संसार में हमें इतनी भिन्नता नजर नहीं आती। एक ही माता-पिता के दो लड़के एक जैसी अवस्थाओं के अंदर उत्पन्न होते हैं; परंतु वे रंग, रूप और बुद्धि में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। दो पेड़ों के बीज भूमि पर गिरते हैं। एक भूमि में से मिठास के तत्त्व लेकर मीठे फल पैदा करता है। दूसरा उसी से खुराक लेकर जहरीला फल पैदा करता है। एक ही वृक्ष के

दो बीजो से एक जैसी भूमि पर भिन्न भिन्न रूप और कद के दरख्त बनते हैं यदि केवल परिस्थिति और जन्म के अनुसार ही संसार चलता तो कुछ विशिष्ट जोड़ों से पैदा हुए मनुष्य या दूसरी योनियों में इतना भेद कहाँ से आता कि कोई भी दूसरे से मिलता दिखाई नहीं देता। परिणाम यह है कि समस्त पैतृक प्रभाव के बावजूद हर प्राणी का अपना अलग व्यक्तित्व है, जो परिस्थिति से खास-खास संस्कार ग्रहण करता है। यह व्यक्तित्व ही उसकी प्रकृति है। यही उसका स्वभाव है।

बुद्धि और स्वतंत्रता

बाह्य प्रकृति को लेकर देखने से प्रतीत होता है कि वनस्पतियों के अंदर मन, बुद्धि आदि का कोई निशान नहीं मिलता। पशुओं में जहाँ इंद्रियों की काफी उन्नति हो चुकी है, हम मन और बुद्धि का प्रारंभ पाते हैं। उनमें बुद्धि निसर्ग या नैसर्गिक प्रेरणा की अवस्था है; अर्थात् पशु जो कर्म करते हैं, स्वभाव से बाध्य होकर करते हैं। जब किसी जंगली जानवर को कोई हानिकारक पदार्थ खा लेने पर कष्ट हो जाता है तो वह वैद्यक शास्त्र जाने बगैर उसका स्वाभाविक इलाज कर लेता है। पशुओं को ब्रह्मचर्य का लाभ बताने की जरूरत नहीं, उनके अंदर नर-मादा के संयोग की इच्छा सिवा नियत समय के कभी उत्पन्न नहीं होती; परंतु कुत्ता, हाथी, बंदर आदि समुन्नत पशुओं के अंदर सोच-विचार के निम्न चिह्न पाए जाते हैं। मनुष्य में यह नैसर्गिक प्रेरणा बुद्धि का रूप ले लेती है। बुद्धि का अर्थ ही विचार है और विचार के साथ अच्छा तथा बुरा, लाभदायक और हानिकारक कामों में पहचान का होना भी आवश्यक है। यदि मनुष्य को किसी काम के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के बाद उसे करने या न करने का अधिकार न हो तो उसके अंदर बुद्धि के होने का कुछ अर्थ नहीं। जब बुद्धि इंद्रियों के वश में होकर चलती है तो मनुष्य को प्रकृति का गुलाम बना देती है। उस अवस्था में उसे स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता है। इसलिए गीता के तेरहवें अध्याय के श्लोक २१[१] में लिखा है कि पुरुष का प्रकृति के उन गुणों के साथ बँधा होना ही जीव के जन्म-मरण के बंधन का कारण है। किंतु 'बुद्धियुक्त' होकर व्यवसायात्मिका बुद्धि (जिसका अध्याय दो के श्लोक ४१[२] आदि में उल्लेख है) प्राप्त करने पर ही

---

१ पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

२ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

मनुष्य प्रकृति के गुणों से ऊपर उठकर अधिकार कर सकता है।

दो प्रकार के मनुष्य

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—१. उदासीन (विचार-स्वातंत्र्य से रहित) और २ क्रियावान् (स्वयं सोचकर काम करनेवाला)। जिन देशों में विचार-स्वातंत्र्य की प्रथा बहुत कम है, वहाँ विशेष रूप से सब लोग नदी के प्रवाह के साथ तिनकों की तरह बह जाते हैं। मनुष्य की उन्नति का मार्ग यह है कि सब व्यक्तियों में हर विषय पर विचार करने का गुण पैदा हो। स्वयं सोचनेवाले मनुष्य को 'क्रियावान्' कहा जा सकता है। मनुष्य के मन के दो भाग हैं—१. ऐच्छिक, २. अनैच्छिक। ऐच्छिक मन केवल जाग्रत् अवस्था में काम करता है, अनैच्छिक हर अवस्था में; चाहे मनुष्य सोया हुआ हो या जागता। नींद में आनेवाले सपने इसी अनैच्छिक मन के काम हैं। बदर की तरह यह मन विचारों के एक क्रम से दूसरे की तरफ दौड़ जाता है। इसे भाव-साहचर्य का कानून कहा जाता है। एक बात विचित्र सी मालूम होती है, परंतु देखने में प्राय: आती है। यदि रात को सोने से पूर्व हम मन से कह दें कि सवेरे चार बजे जगा देना, तो प्राय: नियत समय पर अंदर से उठाने की आवाज आ जाती है। जिन आदमियों के मन और भी ज्यादा बड़े होते हैं, वे और भी अधिक प्रभावित होते हैं। ऐसे मनुष्य सम्मोहन या हिप्नोटिज्म के अच्छे माध्यम बन सकते हैं। और सम्मोहन की उपचार-विधि (झाड़ या मंत्र-यंत्र आदि) ऐसे लोगों के लिए लाभप्रद पाई गई है। इनके ऊपर दूसरे के भाषण या लेख का प्रभाव अधिक होता है। ऐसे आदमी केवल अच्छे सिपाही या शिष्य बन सकते हैं, उनके अंदर अपना रास्ता बना सकने का गुण कम होता है।

दूसरे प्रकार के मनुष्यों का ऐच्छिक मन बलवान् होता है। जहाँ ऐसे लोग अधिक हों वहाँ हर अवसर या कठिनाई में नेता पैदा हो सकते हैं। इस रास्ते पर चलकर आदमी मन को जीत सकता है और तत्पश्चात् वह दूसरों पर भी विजय प्राप्त कर सकता है। ये वे लोग हैं, जिन्हें परिस्थिति नहीं बदलती, बल्कि वे ही परिस्थिति को बदल देते हैं। वे महापुरुष या दिलवाले कहलाते हैं।

भगवद्गीता के अध्याय चार का श्लोक ४०[१] बताता है, 'जिस मनुष्य का मन अज्ञान और संशय में फँसा होता है, वह नष्ट हो जाता है। उसके लिए न इस

---

१ अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मन: ॥

दुनिया में सुख होता है, न उसमें।' श्लोक ४१[१] में कहा गया है, 'जिस मनुष्य ने कर्मयोग की सहायता से कर्मों को जीत लिया है और ज्ञान के संशय को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है वही आत्म-उन्नत है, वह कर्मों के बंधन में नहीं फँसता है।'

हमारा संसार हमारे हृदय का प्रतिबिंब है

इसी विषय को हम एक दूसरे दृष्टिकोण से भी देख सकते हैं। बाह्य संसार मनुष्य के मन का प्रतिबिंब है। विज्ञानवादी उसे विचारों का स्थान बना हुआ रूप कहते हैं। अर्थात् सब रूप मन से ही बने हैं। वे कहते हैं कि समस्त जगत् मन की तरगों से ही बना, जैसे सारे रंग सूर्य की किरणों के प्रतिबिंब हैं। विज्ञान बताता है कि रंग वास्तव में कोई चीज नहीं है; हर एक पदार्थ पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं, किरणों की लहरों से सब रंग दिखाई देते हैं। पदार्थ कुछ लहरों को अपने अदर समा लेता है और बाकी वापस कर देता है। सभी प्रकार की लहरें आत्मसात् कर लेने पर काला रंग पैदा होता है और सभी लौटा देने पर सफेद। बिलकुल स्वार्थी मनुष्य काले रंग के और निस्स्वार्थ व्यक्ति सफेद के समान कहे गए हैं। जैसा कोई मनुष्य होता है वैसी ही उसे दुनिया नजर आती है। एक कंजूस धनिक को सब लोग लालची दिखाई देते हैं। भूखे से किसी ने पूछा, 'दो और दो?' उसने जवाब दिया, 'चार रोटियाँ।' नेक आदमी सबको नेक समझकर विश्वास कर लेता है। एक कमरा शीशों का बना हुआ है। एक कुत्ते को उसके अंदर ले जाएँ। इधर-उधर जहाँ वह दृष्टि डालता है, उसे कुत्ते-ही-कुत्ते दिखाई देते हैं। वह अपने स्वभाव के अनुसार सब पर भौंकता है और शीशों को काटता है। इसी तरह बाहरी प्रकृति कुछ भी हो, हम अपनी दुनिया को अपने विचार की शक्ति से बनाते हैं। जो व्यक्ति अपने नौकर या साथी पर विश्वास नहीं करता, वह उसको बेईमानी सिखाता है। ज्यों-ज्यों कानून ज्यादा पेचीदा होता जाता है त्यों-त्यों लोग भी उतने ही ज्यादा कुटिल और धोखेबाज होते जाते हैं। यदि हम अच्छे विचार बाहर भेजेंगे तो बाहर से अच्छे विचार हमारे अंदर आएँगे। संसार में क्रिया और प्रतिक्रिया का नियम काम करता है। पर्वत के पास आवाज देने से वैसी ही गूँज सुनाई देती है। अगर एक सर्वथा बंद कमरे में कुछ सितार एक स्वर करके रख दिए जाएँ तो एक को बजाने पर बाकी भी उसी स्वर में बजने लगेंगे। हम स्वयं ही अपनी शक्ति

---

१ योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥

ौर निर्बलता के उत्पन्न करनेवाले हैं जिस क्षण हम निश्चय कर ले उसी समय मारा मार्ग स्पष्ट हो जाता है। भगवद्‌गीता के अध्याय नौ के श्लोक ३०[१] और ३१[२] ति नीच और पापी को भी आशा दिलाते हैं।

□

२ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

३ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

सत्रहवाँ परिच्छेद

धर्म और अधर्म

धर्म और अधर्म का विषय बहुत पेचीदा है

धर्म और अधर्म का प्रश्न इतना सरल और सीधा नहीं जितना प्रायः समझा जाता है। भिन्न-भिन्न तरीकों से इस प्रश्न को सुलझाने का यत्न किया गया है। मजहब पर ईमान लानेवाले इसका निर्णय परमात्मा पर छोड़ देते हैं। उनका खयाल है कि खुदा अपने कानून लोगों के निर्देश के लिए पुस्तक विशेष द्वारा प्रकट कर देता है। इन कानूनों को मानना धर्म है, न मानना अधर्म। इस खयाल को स्वीकार करने में बड़ी दिक्कत यह है कि विभिन्न युगों को विभिन्न लोगों के लिए खुदा ने परस्पर विरोधी हुक्म क्यों जारी किए? और इसका निर्णय कैसे हो कि कौन से आदेश ठीक हैं? इसके अतिरिक्त वर्तमान काल में भी ऐसे व्यक्ति हैं, जो पैगंबरी का दावा करते हैं और अपनी-अपनी पुस्तक को मानने के लिए पेश करते हैं। इसका निर्णय कैसे किया जाय कि इनमें सच्चा दावेदार कौन है। इसके अतिरिक्त, मानव जाति के उस अंश का क्या होगा जिन्हें अभी तक कोई पुस्तक प्राप्त नहीं हुई? फिर धर्म के बारे में उनमें बहुत मतभेद पाया जाता है। कुछ ऐसे जंगली समूह हैं, जिनमें प्रेम का नाम भी नहीं है; बूढ़ों, बच्चों, कमजोरों और बीमारों को जरूरत पडने पर मारकर खा लिया जाता है। कुछ ऐसे कबीले हैं, जो अपनी कन्या के कौमार्य की रक्षा के लिए पैदा होते ही दूसरे गुप्त अंगों को सी देते हैं और विवाह के समय खोलते हैं। कुछ दूसरे ऐसे हैं जो उनके विपरीत, लड़की के विवाह से पूर्व उससे बच्चा पैदा करने का प्रयोग आवश्यक समझते हैं। इन सब मत-भिन्नताओं के लिए उत्तरदायी कौन है?

आंतरिक आवाज क्या है?

इसी धर्म और अधर्म के प्रश्न का दूसरा बड़ा हल आंतरिक आवाज या अंतरात्मा बताई जाती है, यद्यपि अंतरात्मा हमारे सामाजिक शिक्षण तथा परिस्थिति का फल है। हर एक मनुष्य की अंतरात्मा दूसरे से भिन्न होती है। एक अहले इसलाम को किसी जानवर का वध करना अंतरात्मा के विरुद्ध नहीं मालूम देता, लेकिन एक जैन को अपने शरीर की जूँ या चारपाई के खटमल मारना भी असह्य है।

अंदर की आवाज सिर्फ एक तरह की गूँज होती है, जो हमारे एकत्र हुए संस्कारों से उत्पन्न होती है। जिस प्रकार के संस्कार होंगे उसी प्रकार की अंतरात्मा होगी। स्वयं इसका कोई अस्तित्व नहीं। फिजी आदि टापुओं में जो जंगली कबीले अपने बीमार माँ-बाप को मारकर खा जाते हैं, उनकी अंतरात्मा उन्हें कुछ नहीं कहती।

सार्वजनिक मत का महत्त्व

इस प्रश्न का निर्णय करने का तीसरा मानदंड जन-साधारण की राय है, जो उनकी रीतियों आदि में पाई जाती है। जिस बात को सार्वजनिक मत अच्छा कहे वह ठीक है, उसके विरुद्ध बात गलत। किसी मामूली कारोबार के लिए यह राय कसौटी का काम दे सकती है; परंतु ऐसी परिस्थिति भी आ जाती है जब इसके अनुसार चलने से बड़े खतरे का डर होता है। जिन लोगों ने सुकरात जैसे महात्मा की शिक्षा को समाज के लिए बिगाड़नेवाली बतलाकर उसे जहर का प्याला पीने हेतु बाध्य किया, उनके सार्वजनिक मत की कीमत फूटी कौड़ी भी नहीं हो सकती। सुकरात उन विचारों का प्रचार करता था जो सर्वसाधारण समझ नहीं सकते थे। उन्होंने उस पर युवकों को पथभ्रष्ट करने का आरोप लगाया और फतवा दिया कि वह जहर पीकर मृत्यु को ग्रहण करे। इस दार्शनिक की महानता देखिए, जब उसके शिष्य क्राइटो ने उसे भाग जाने का परामर्श दिया तो उसने जवाब दिया, 'क्राइटो, मैं भाग जाने के लिए तैयार हूँ, अगर किसी ऐसी जगह ले चलो जहाँ मृत्यु न आ सके।' जितने बड़े सुधारक या प्रवर्तक हुए हैं, साधारण समाज उनके विरुद्ध ही रहे हैं, यद्यपि उनमें से बहुतेरे सत्य मार्ग पर थे।

सुनहला नियम

चौथा बड़ा मानदंड, जिसे चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक कनफ्यूशियस का बताया जाता है और जिसको बाइबल ने भी पसंद किया है, यह सुनहला नियम था,

दूसरो के साथ आप वही व्यवहार करे जो आप चाहते हैं कि दूसरे आपके साथ करें।' भगवद्गीता के अध्याय छह के श्लोक ३२[१] में भी यही कहा गया है, 'जो मनुष्य सुख और दुःख में सब जगह सबको अपने जैसा समझता है, वही योगी है।'

जहाँ तक सामाजिक बरताव का संबंध है, इससे बेहतर कोई नियम नही हो सकता। व्यक्तिगत मामलों में हम स्वतंत्र हैं, परंतु सामाजिक मामलों में समाज के अधीन हैं। हैकल कहता है, 'जो मनुष्य समाज में रहकर उससे लाभ और आनंद प्राप्त करता है, उसका कर्तव्य है कि वह समाज के कानून को न तोड़े। यदि उसे पूर्ण स्वतंत्रता की जरूरत है तो उसे चाहिए कि समाज को छोड़कर जंगल में चला जाय।' परंतु ऐसी परिस्थिति भी आती है, जब यह कसौटी काम नहीं दे सकती। इस कसौटी से जीवन के विध्यात्मक धर्म पूरा करने में कोई मदद नहीं मिल सकती। इससे यह प्रकट नहीं होता कि स्त्री के लिए पवित्रता, ब्राह्मण के लिए भूखा रहकर भी धर्म का उपदेश देना, क्षत्रिय के लिए देश तथा जाति के रक्षार्थ प्राणों को संकट में डालना धर्म है। इससे यह भी निश्चय नहीं होता कि कृष्ण द्वारा कंस को मारना उचित था या नहीं।

सुखवाद

पाँचवें वे सुखवादी लोग हैं, जो बताते हैं कि मनुष्य को अपना सुख सबसे बढ़कर समझना चाहिए। इस सुखवाद को यूनान में ऐपिक्युरियन और भारत मे 'चार्वाक दर्शन' कहा गया है। उनकी दृष्टि में सुख का अर्थ विषयों का सुख है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि साधारणतया मनुष्य का स्वभाव उसे ऐसे कामों की ओर ले जाता है, जिनसे उसे सुख प्राप्त हो सके। परंतु इस पर बड़ी आपत्ति यह है कि मनुष्य की तृष्णा कभी पूरी नहीं होती, बल्कि ज्यों-ज्यों मनुष्य किसी विषय का ज्यादा गुलाम होता जाता है त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक दुःख उठाना पड़ता है। यही नहीं, अपनी प्रसन्नता की खोज में मनुष्यों के मध्य में परस्पर असीम शोक और घृणा का होना भी आवश्यक है, खासकर तब जब हम देखते हैं कि सारी दुनिया की दौलत भी एक आदमी की तृष्णा को मिटा नहीं सकती। महमूद गज़नवी इतनी लूटमार के बावजूद बहुत शोक करता और रोता हुआ संसार से गया।

इस सिद्धांत को दृष्टि में रखकर कोई बच्चा खेल-तमाशों को छोड़कर

---

१ आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

कभी भी विद्या प्राप्त करने का परिश्रम स्वीकार नहीं करेगा। यदि यह कहा जाय कि बच्चों की अवस्था में यह नियम लागू नहीं होता तो यह याद रखना चाहिए कि जगत् में साधारण लोग बच्चों का सा स्वभाव रखते हैं। उनको तो धर्म-अधर्म के विषय में बच्चों के समान नियमों से बाँधकर रखना जरूरी है।

उपयोगितावाद

इस प्रकार के सभी मानदंडों को अपूर्ण समझकर प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् बेंथम ने उपयोगितावाद निकाला। इसके अनुसार सबसे अधिक मनुष्यों के सुख की सबसे अधिक मात्रा ही धर्म-अधर्म की बड़ी कसौटी है। इसमें संदेह नहीं कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह बहुत उत्तम मत पेश किया गया है; परंतु इसमें एक कठिनाई तो यह है कि इसको क्रियात्मक रूप से काम में लाना मुश्किल है। ऐसा कोई तरीका नहीं है, जिससे यह मालूम हो सके कि सबसे अधिक सुख किस बात से प्राप्त कर सकेंगे। दूसरी कठिनाई है—प्रत्येक मनुष्य का सुख दूसरे व्यक्तियों के हर समाज या राष्ट्र का सुख दूसरे समाजों अथवा राष्ट्रों के सुखों के इतना विरुद्ध होता है कि यह समझना कठिन है कि सुख को मानदंड बनाकर क्यों कोई अपने सुख से दूसरे के सुख को बड़ा समझे। मनुष्य केवल अपनी खुशी से ही दूसरों की खुशी को पहचान सकता है। एक तीसरी पेचीदगी भी तब सामने आती है जब हम बेंथम के शिष्य दार्शनिक मिल[१] को सुख के दो भेद भी बतला देते हैं। एक, सामान्य लोगों की खुशी, जिसे वह घटिया समझता है और दूसरी, विद्वानों की खुशी, जिसे वह उत्तम मानता है। सुख का जोड़ करने में वह उत्तम सुख को निम्न पर बहुत प्राथमिकता देता है।

महाजनो येन गतः स पंथाः

महाभारत में कहा गया है, 'वेद एक रास्ता बताते हैं, स्मृतियाँ दूसरा। कोई ऐसा मुनि नहीं जिसका मत दूसरों से भिन्न न हो। धर्म का तत्त्व बहुत गूढ़ है, छिपा हुआ रहस्य है। इस कारण रास्ता वही समझो जिस पर महापुरुष चलते हों।'[२] अंतिम निर्णय दिया है, 'धर्म जाँचने का कोई एक नियम निश्चित नहीं है। यह समय-समय

---

१ मिल—Mill, दे. वही, पृ. ५४३।

२ वेदा विभिन्नाः स्मृतयोर्विभिन्नाः नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम महाजनो येन गतः स पंथाः॥

पर बदलता रहता है और भिन्न परिस्थिति में भिन्न हो जाता है दया और सत्य जैसे धर्म भी कुछ मौको पर अधर्म हो जाते हैं महाभारत के कर्णपर्व मे इस विषय पर अच्छी तरह से विवेचन किया गया है जब कर्ण का रथ फँस गया तो उसने अर्जुन से अनुरोध किया कि नि.शस्त्र शत्रु पर बाण चलाना धर्म नहीं . अर्जुन रुक गया कृष्ण ने देखा कि अवसर हाथ से जा रहा है। अर्जुन को जोश दिलाने के लिए वे कर्ण से इस प्रकार बोले, 'उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ था, जब तुमने कपट से जुआ खेला? उस वक्त धर्म कहाँ था, जब द्रौपदी का अपमान किया? तब तुम्हारा धर्म कहाँ था, जब तुमने अकेले अभिमन्यु को घेरकर मारा? जिस धर्म की दुहाई तुम देते हो उसकी विजय के लिए इस समय अर्जुन का बाण चलाना ही धर्म है।' इसी सबंध में गाय को कसाई का तथा यात्री को डाकुओं का दृष्टांत है। यदि एक गाय भाग निकली हो और उसे पकड़ने के लिए बधिक पूछे कि गाय किस रास्ते गई है तो उस समय सच बोलना झूठ से बुरा है। और अगर एक मुसाफिर जंगल में डाकुओं से छिप गया हो तो उन डाकुओं को झूठ बोलकर गलत दिशा में न भेजना पाप है।

व्यक्ति, श्रेणी और राष्ट्र के लिए पृथक्-पृथक् कसोटी

यह कठिन पहेली समझने का केवल एक तरीका है। वह यह कि हम व्यक्ति, श्रेणी और राष्ट्र के धर्म-अधर्म की जाँच अलग-अलग कसौटियों से करें और फिर देखें कि वे तीनों फिर किसी एक कसौटी पर एकत्र की जा सकती हैं या नहीं। हिंदू शास्त्रों में देश-काल को दृष्टि में रखकर राष्ट्र, वर्ण या श्रेणी और व्यक्ति का पृथक्-पृथक् धर्म निर्धारित है—जाति का अपना, श्रेणी अथवा वर्ण का अपना और स्त्री का अपना धर्म है। विभिन्न आश्रमों में मनुष्य के जुदा-जुदा धर्म हैं। इनका उल्लेख भगवद्गीता के अध्याय अठारह के श्लोक ४१[१], ४२[२], ४३[३], ४४[४], ४७[५]

---

१ ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

२ शमो दमस्तप. शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

३ शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्॥

४ कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

५. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

आदि में पाया जाता है। अध्याय चार के श्लोक १३[1] में कहा गया है, 'ये वर्ण और आश्रम हर मनुष्य के गुण, कर्म और स्वभाव को लेकर बनाए गए हैं।'

ईसाई मजहब और बौद्ध मत का सभी मनुष्यों के लिए त्याग-धर्म का उपदेश करना भूल है। एक व्यक्ति त्याग की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करता, वह क्यों त्याग करे? उसके लिए अपना धर्म उतना ही पवित्र है जितना दूसरे के लिए त्याग का। क्षत्रिय का कर्म ब्राह्मण के लिए और गृहस्थ का धर्म ब्रह्मचारी के लिए अधर्म है। जो धर्म संन्यासी का है, वह जन-साधारण का नहीं हो सकता।

साधारण लोग वर्णों को जातियों से मिलाकर गड़बड़ पैदा कर देते हैं। वर्ण का जन्म से जरा भी संबंध नहीं। वर्ण तो समाज का एक स्वाभाविक विभाजन है, जिससे हर सदस्य समाज की वह सेवा कर सकता है जिसके लिए वह सबसे अधिक योग्य है। वर्ण की दृष्टि से ब्राह्मण की भी वही पदवी है, जो शूद्र की है। ब्राह्मण सिर के द्वारा जाति की सेवा करता है, शूद्र पाँवों के तौर पर। जैसे शरीर में सिर और पाँव एक जैसे आवश्यक और पवित्र हैं वैसे ही समाज के लिए ब्राह्मण और शूद्र—दोनों पवित्र हैं। भगवद्गीता के अध्याय अठारह के श्लोक ४७[2] में इसी विचार को प्रकट किया गया है, 'हर एक श्रेणी का अपना धर्म उसके लिए दूसरे सभी धर्मों से ऊँचा और पवित्र है।'

ऋषि कणाद ने धर्म की परिभाषा बतलाते हुए कहा है कि 'धर्म वह है, जिससे इस लोक और परलोक—दोनों की सिद्धि होती है।' परंतु यह प्रश्न फिर भी बाकी रह जाता है कि वह कौन सी वस्तु है, जिससे इस लोक और परलोक में मनुष्य का कल्याण होता है? इसका उत्तर इस श्लोक से मिलता है—हर एक श्रेणी के लिए देश-काल के अनुसार पृथक्-पृथक् धर्म होते हैं। इसी नियम के अनुसार पुरुषों का धर्म स्त्रियों के धर्म से सर्वथा भिन्न है। वे लोग भूल करते हैं, जो यह समझते हैं कि स्त्री को भी पुरुष जैसे सभी काम करने चाहिए। स्त्री का सर्वोच्च धर्म सुसंतान की उत्पत्ति और उसे शिक्षा देकर जाति तथा देश के लिए तैयार करना है। भगवद्गीता के पहले अध्याय में अर्जुन ने जाति-धर्म और कुल-धर्म का सवाल उठाया है। जिस समय रथ में बैठे हुए अर्जुन ने कुरुक्षेत्र में अपने आचार्यों, गुरुओं और संबंधियों को देखा तो उसका दिल काँप गया और तीर-कमान हाथ से गिर गया। उसने भगवान् कृष्ण से बड़ा भारी प्रश्न किया, 'इन लोगों का चित्त लोभ के

---

१ चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

२ देखिए, टिप्पणी क्र. ६, पृ. २१४।

अदर फसा हुआ है ये देख नहीं सकते कि कुल धर्म नष्ट हो जाने और जाति के साथ द्रोह करने का पाप क्या होता है। मैं इनके साथ कैसे लडूँ; क्योंकि जहाँ पर ऐसे युद्ध से कुल का नाश हो जाता है वहाँ पर वर्ण-संकर उत्पन्न हो जाते हैं और वर्ण-सकर पैदा होने से कुल तथा जाति के धर्म सदा के लिए उठ जाते हैं।' मेरा अनुभव यह है कि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नहीं दिया। उन्होने ज्ञान तथा दर्शन की बातें और आत्मा को अमर बताकर अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार कर लिया। यह तो हुआ, परंतु इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि महाभारत के युद्ध के पश्चात् भारत से कुल एवं जाति-धर्म चिह्न एक प्रकार से मिट ही गए। जो कुछ दुर्योधन ने किया, वही कई हजार वर्ष बाद जयचंद ने किया। जब जयचंद के सामने उसकी लड़की ने यह प्रश्न किया कि आपके इस देशद्रोह से हिंदू धर्म उठ जाएगा, लाखों गौओं का वध किया जाएगा और मंदिर गिराए जाएँगे, तब जयचद ने उत्तर दिया, 'कुछ भी जो जाय, मेरी आत्मा तभी प्रसन्न होगी जब मैं पृथ्वीराज का लहू गिरते हुए देखूँगा।' यदि हम बाद के मराठों और सिखों का इतिहास ध्यान से पढ़ें तो उनके अंदर भी हम यही पाएँगे कि भारत से जाति-धर्म नष्ट हो गया था। यदि यह जाति-धर्म विद्यमान होता तो न भारत में इतनी आँधियाँ आतीं और न देश का इतना विनाश होता।

व्यक्तिगत धर्म

भगवद्गीता में कहा गया है, 'व्यक्तिगत दृष्टि से मनुष्य के सब काम, यज्ञ और तप भी, तीन प्रकार के होते हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक।' अध्याय सत्रह का श्लोक ३ * बतलाता है, 'आदमी वैसा ही होता है जैसी उसकी श्रद्धा होती है।' प्राय: मन का भाव ही हर एक काम को अच्छा या बुरा बताता है। मुझे किसी से रुपए लेने हैं। मैं उस पर दावा करता हूँ। मुझे किसी के रुपए देने हैं, वह मुझ पर दावा करता है। मैं इनकार करके झूठ बोल देता हूँ। एक सत्य बोलने से मेरा सम्मान होता है। मैं भाषण में सच बोलता हूँ, पकड़ा जाता हूँ। मुझे जान बचाने के लिए झूठ बोलना जरूरी है, मैं मुखबिर बन जाता हूँ। क्या इन कामों में सच या झूठ कोई अपना अस्तित्व रखता है? कुछ नहीं। जो बात मेरे मतलब की होती है वह मैं कर लेता हूँ। मौके पर सच, मौके पर झूठ, जरूरत पड़ने पर दोस्ती और दुश्मनी, कभी

---

* सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

कठोरता, कभी नरमी। बात यह है कि मनुष्य वह है जो उसकी श्रद्धा है, जो उसका 'मोटिव' है।

संस्कृत का शब्द 'पाप' 'पे' धातु से निकला है, जिसका अर्थ 'सुखाना' है। जो काम मनुष्य को सुखा देता है वह पाप है। जो उसे विषयों की गुलामी में बाँधता है वही सुखाता है। इसी कारण भगवद्गीता के अध्याय तीन के श्लोक ३७[१] में कहा गया है, 'यह काम है, यह क्रोध है, जो हमको पाप में फँसाता है।' काम, अर्थात् व्यक्तिगत इच्छा ही सारे पाप की जड़ है। जो कार्य निजी फायदे के लालच में या कष्ट के भय से किया जाता है वह पाप है और जो केवल धर्म समझकर किया जाता है वह पुण्य है। इसलिए गीता के अध्याय अठारह के श्लोक १७[२] में कहा गया है, 'जिस आदमी के अंदर अहंकार का भाव नहीं है, वह वध करता हुआ भी वध नहीं करता।'

श्रेणी-धर्म और राष्ट्र-धर्म

एक श्रेणी तो खास गुणों को धर्म और दूसरी उनको अधर्म कहती है। अमीरों और गरीबों के संघर्ष में अमीर बहादुरी को अच्छा कहेंगे, गरीब कमजोर की सहायता को। धनियों के लिए अधिकार का अर्थ असमता है और असमता प्रकृति ने बनाई है। इसके विरुद्ध निर्धन साम्यवाद के पक्षपाती होंगे। विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक संबंध धर्म पर आश्रित हैं या अधर्म पर? इसका फैसला करने की एक ही कसौटी है—सफलता। इसका निर्णय प्राय: पारस्परिक संघर्ष या मुकाबले से हुआ करता है। एक जापानी से प्रश्न किया गया—जापान सभ्य कैसे बना? उसने उत्तर दिया—रूस-जापान युद्ध में कई लाख रूसियों का वध करने से। यदि अमेरिका इंग्लैंड के मुकाबले पर युद्ध में सफल न होता तो वाशिंगटन अमेरिका के लोगों का हीरो या अधिनायक बनने के बजाय विद्रोही समझा जाता। राष्ट्रों में शक्तिहीनता अथवा गलत नीति दुर्बलता उत्पन्न करके उनको नष्ट कर देता है। यह दुर्बलता है जो सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप है। इसीलिए कहावत प्रसिद्ध है कि 'खुदा भी बड़ी सेनाओं की तरफ होता है।'

---

१ काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥

२ यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

जब हरिसिह नलवा डेरो की तरफ विजय प्राप्त करता हुआ बढ रहा था तो वहाँ की मुसलमान आबादी बहुत तग आ गई और खान लोगो ने इकट्ठे होकर उसका सामना करने का विचार किया। उन्होंने एक बूढ़े नवाब को चिट्ठी लिखी, 'हम सबने मिलकर यह इरादा किया है। उम्मीद है, आप भी शामिल होंगे। खुदा हमारी मदद करेगा।' नवाब ने बुद्धिमत्तापूर्ण स्पष्ट उत्तर दिया, 'अगर अपने अंदर हिम्मत देखते हो तो बेशक सामना करो; मगर खुदा का भरोसा छोड़ दो, क्योंकि खुदा तो आजकल सिख हो गया है।'

पतित राष्ट्रों का एक ही रोग है कि उनमें बहुतेरी संख्या में ऐसे आदमी मिलते हैं, जो अपने निजी लाभ के लिए राष्ट्रीय जीवन की बलि चढ़ा देते हैं। वन के वृक्षों को किसी ने बताया कि तुम्हें काटने की तैयारी हो रही है। वे घबरा गए। उनमें एक बूढ़ा पेड़ था। उसने कहा कि मत डरो, तुमको कोई काट नहीं सकता। फिर बताया गया, अब लोहा खान से निकाल लिया गया है। वे फिर घबराए और बूढे ने उन्हें धीरज बँधाया। फिर कहा गया कि अब कुल्हाड़ा तैयार हो गया है। फिर वैसा ही हुआ। अब समाचार मिला कि कुल्हाड़ों के साथ लकड़ी का दस्ता डाला गया है। तब बूढ़ा पेड़ दु:ख के साथ कहने लगा—अब तुम कटने के लिए तैयार हो जाओ, क्योंकि तुम्हारे अपने भाई शत्रु से जा मिले हैं। महाभारत का उल्लेख है कि जब दुर्योधन को गंधर्व राजा बंदी बनाकर ले चला—यद्यपि वह युधिष्ठिर को दु:ख देने के लिए आया था—तब फिर भी युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा, 'जाओ, उसको छुड़ा लाओ। जब हमारा दूसरों से मुकाबला हो तो हम पाँच भाई नहीं बल्कि एक सौ पाँच हैं।'

अच्छा क्या है और बुरा क्या?

जब कभी दो राष्ट्रों के बीच मुकाबला या संघर्ष होता है तब स्वभावत: दोनों अपने आपको ही हक पर सही समझते हैं। बिलकुल उस बच्चे की तरह जिसने अपनी माँ से जाकर कहा, 'माँ, बड़ी अजीब बात है। जब भी मैं किसी लड़के से बहस करता हूँ तो मैं सदा ठीक होता हूँ और मेरे विरोधी गलती पर।' इसी तरह का विचार इंग्लैंड और फ्रांस के सौ वर्षीय युद्ध के दौरान स्कॉटलैंड की एक बुढ़िया ने प्रकट किया। वह अपने राष्ट्र की विजय के लिए प्रार्थना कर रही थी। किसी ने कहा, 'परमात्मा ऐसी प्रार्थनाएँ नहीं सुनता, क्योंकि तुम्हारी तरह फ्रांस की स्त्रियाँ भी प्रार्थनाएँ करती होंगी।' इस पर वह झट से बोल उठी, 'फ्रेंच जैसी बेहूदा भाषा खुदा कैसे समझता होगा?' प्राय: प्रत्येक राष्ट्र अपनी

नीति की सफाई में संसार की भलाई का बहाना पेश करता है; किंतु उनको संसार की भलाई का वही पहलू ठीक नजर आता है जिसमें वे स्वयं अपना भला देखते हैं।

उदाहरण के लिए, यह कहना कि रूस की सरकार अच्छी नहीं है, बड़ी अस्पष्ट बात है; क्योंकि अंग्रेज एक तरह की सरकार का वहाँ होना अच्छा खयाल करते हैं, जर्मन दूसरे प्रकार की सरकार अच्छी समझते हैं और रूस के लोग उसके एक विशेष रूप को अच्छा मानते हैं। रूस में भी धनवानों और निर्धनों के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न हैं। भावी मानव वंश के लिए अच्छी सरकार क्या है? एक और दृष्टिकोण भी है। मिल ने अपनी पुस्तक 'रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट' (प्रतिनिधि सरकार) में भारत का उल्लेख करते हुए लिखा है, 'एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर शासितो के हित के लिए शासन करना असंभव है, क्योंकि कोई राष्ट्र एक राष्ट्र के रूप में, सिवाय अपने हित के कुछ देख नहीं सकता।' भले ही उसके ऐसा कहने का अर्थ दूसरा था। वह यह कि भारत का शासन संसद् के हाथ में नहीं होना चाहिए, बल्कि कंपनी के हाथ में। मिल कंपनी के नौकर के तौर पर 'इंडिया ऑफिस' में कार्य करता था।

युद्ध का अंत क्योंकर हो?

यूरोपीय जातियों की नीति एक समय तक यूरोप के अंदर अधिक-से-अधिक प्रभुत्व प्राप्त करने की थी। इसी कारण उनके पारस्परिक युद्ध हुए। वर्तमान काल में उनकी नीति संसार के अन्य देशों पर अपना रोब-दाब जमाने और धन कमाने की है। इस प्रभुत्व और रोब-दाब की कमी-बेशी के कारण उनकी पारस्परिक ईर्ष्या सभी युद्धों का मूल कारण सिद्ध हुई है। उनकी देशभक्ति में, अंतस्तल में, दूसरे राष्ट्रों के प्रति द्वेष की भावना काम करती है। यूरोप का गत महायुद्ध क्या था? जो दौलत एशिया की गरीब जातियों के खून से एकत्र की गई थी, उससे तोपें और गोले बनाए गए। इन तोपों और गोलों ने धन जमा करनेवालों की संतति को नष्ट करने का काम किया।

महाभारत का युद्ध भी निस्संदेह इस प्रकार का विनाशकारी था। फर्क सिर्फ इतना है कि उस युद्ध की नींव न तो शक्ति की इच्छा थी, न दूसरों के द्वेष। उसका आरंभ उन लोगों की तरफ से हुआ, जिनके सभी अधिकार दबाकर उनको निर्वासित कर दिया गया था और जिनको जीवन बिताने के लिए अवसर नहीं दिया जा रहा था। दुर्योधन जुल्म और अन्याय का एक मूर्त रूप था, जिसे नष्ट करना क्षत्रिय धर्म

का एक भाग था अध्याय दो के श्लोक ३६[१] और ३७[२] अध्याय चार का ४२[३] और अध्याय अठारह का श्लोक ५७[४] इसको प्रकट करते हैं। इसी कारण श्रीकृष्ण ने उस युद्ध को 'धर्मयुद्ध' कहा और अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करना जरूरी समझा।

संसार में युद्ध का अंत कर देने के लिए राष्ट्र संघ बनाया गया। महाभारत में यह विचार प्रकट किया गया है कि इस प्रकार के युद्धों को रोकने का उपाय यह है कि झगड़े की हर एक बात के बारे में कानून बनाने का निर्णय चार संन्यासियों की सभा के द्वारा हो, जिनमें एक-एक संन्यासी दोनों विरोधी दलों का हो, तीसरा निष्पक्ष देश का और चौथा वन में रहनेवाला हो। संसार में युद्ध का अंत सिर्फ उस दशा में हो सकता है जब अंतरराष्ट्रीय कानून की नींव धर्म पर रखी जाय।

सर्वश्रेष्ठ धर्म

यदि व्यक्ति धर्मों, श्रेणी-धर्मों और राष्ट्र-धर्मों को एक जगह करके उनकी परीक्षा ली जाय तो इन तीनों के अंदर एक सामान्य सिद्धांत काम करता दिखाई देता है। वह सिद्धांत 'दूसरों की भलाई' है। इसे भगवद्गीता के अध्याय पाँच के श्लोक २५[५] में सर्वभूत-हित कहा गया है। इस धर्म को बतानेवाला वह मनुष्य हो सकता है, जो सभी प्राणियों को एक नजर से देखता हो। अध्याय बारह के श्लोक ४[६] में कहा गया है, 'सबमें एक सिद्धि रखनेवाला और सभी प्राणियों के हित के लिए कोशिश करनेवाला मुझको पाता है।' अध्याय छह का श्लोक २९[७] भी यही कहता है, 'पूर्ण ज्ञानी सब प्राणियों को अपने अंदर और अपनी आत्मा को उनके अंदर

---

१ अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥

२ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

३ तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशय योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

४ चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

५ लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

६ सनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

७ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः॥

देखता है। ज्ञानी अपनी आत्मा का इतना विस्तार करता है कि वह अपने से बढ़कर मानव में और मानव से आगे जाकर प्राणिमात्र में अपनी आत्मा की कल्पना करता है। तब उसके लिए स्वार्थ और परमार्थ—दोनों एक हो जाते हैं। अध्याय पाँच के श्लोक १८* में बताया गया है, 'हिंदू धर्म में संन्यासी सबसे ऊँचा मनुष्य समझा जाता है, जिसका व्रत यह होता है कि उसका कोई देश नहीं, उसकी कोई जाति नहीं, सब मनुष्य ही क्या प्रत्येक प्राणी उसका बंधु है।

❑

* विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

अठारहवाँ परिच्छेद

कर्तव्य

न्याय के साथ प्रेम का अर्थ

भगवद्गीता कर्म का रास्ता बतानेवाला ज्ञान-शास्त्र है। अध्याय चार के श्लोक ७[1] में कहा गया है, 'जब धर्म की ग्लानि होती है तब मैं साधु लोगों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने के लिए संसार में आता हूँ।' मानव संसार में कितने ही अवसरों पर महात्माओं ने केवल प्रेम और भक्ति का प्रचार करके दुनिया को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया है। बुद्ध, ईसा मसीह और नानक ने ऐसा किया। संसार में अन्य अवसर आए हैं, जब कि कुछ महापुरुषों को अधर्म दूर करने के लिए उसके विरुद्ध युद्ध करना पड़ा है। कृष्ण, मुहम्मद व गुरु गोविंद सिंह ने यह रास्ता लिया। वास्तव में दोनों मार्ग एक ही हैं। इनका ग्रहण परिस्थिति पर निर्भर है।

धर्म के साथ प्रेम और अधर्म के साथ युद्ध एक ही बात है। उनके व्यावहारिक रूप में बड़ा अंतर दिखाई देता है; परंतु जैसे माँ बच्चे के साथ प्यार करती है, उससे खेलती है, हँसती है; जब भेड़िया आ जाता है तब अपनी जान की परवाह न करते हुए खंजर लेकर उस पर (भेड़िये पर) कूद पड़ती है। कर्मों के रूप में भेद हो जाता है, माता के प्रेम में कोई भेद नहीं, वह तो सदा एकरस ही रहता है।

भगवद्गीता के ज्ञान का अवसर

गीता का रहस्य बताने का अवसर बहुत विचित्र है। कौरव और पांडव दल

---

१ यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

युद्ध के लिए इकट्ठे हैं। कृष्ण के हाथ में शस्त्र नहीं है। वे तो केवल युद्ध की आत्मा हैं। रथ का सारथि होना ही अर्जुन का मार्ग-प्रदर्शक होना है। अर्जुन ने कहा, 'रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले चलो।' अर्जुन ने दोनों तरफ नजर दौड़ाई। उसे अपने गुरुजन और संबंधी दिखाई पड़े। अर्जुन उन सबके मारे जाने के विचार से घबरा गया। उसकी आँखों में आँसू भर आए। उसने धनुष-बाण नीचे रख दिए। उसे विचार आया कि यह लड़ाई हम लोभ के वश में आकर करने लगे हैं। उसने श्रीकृष्ण से कहा, 'इससे अच्छा भीख माँगकर पेट भर लेना है।' अर्जुन अपना संपूर्ण अधिकार छोड़ने के लिए तैयार हो गया। उसे बदनामी की भी परवाह नहीं रही। उसे लगा कि त्याग ही सबसे बड़ा धर्म है।

अर्जुन अपने संबंधियों और आचार्यों की खातिर सबकुछ त्याग देने के लिए तैयार था, केवल राज्य ही नहीं। भीख माँगकर जीवन बिताने के लिए भी वह राजी था। अर्जुन फिर कहने लगा, 'ये अज्ञानी राज्य के लोभ में फँसे हैं। हम यदि ज्ञानी होकर इन्हें मारेंगे तो हमारे लिए यह महापाप होगा।' श्रीकृष्ण ने देख लिया कि इन सब दलीलों के पीछे कायरता काम कर रही है। उन्होंने कहा, 'ये कैसी कायरों की बातें करते हो! ऐसा करना आर्यों की शान के खिलाफ है। तुम्हारा यह त्याग झूठा है।' हमारे सामने भी व्यक्ति उपस्थित हैं, जो त्याग में सबसे बढ़कर हैं। उनकी कुरबानी का उदाहरण मिलना भी कठिन है; परंतु क्या त्याग सबसे उत्तम धर्म है? कृष्ण ने गीता में निर्णय दिया है कि यह त्याग झूठा है। यह त्याग कायरता से पैदा होता है। मृत्यु का डर—फिर वह अपनी हो या दूसरों की—मनुष्य को कायर बना देता है। यह त्याग, जिसे वह उत्तम समझने लगता है, वास्तव में धर्म का त्याग होता है। इसलिए अध्याय दो के श्लोक १९* में अर्जुन को उन्होंने साफ बताया है, 'इसकी चिंता मत करो। यह आत्मा न तो खुद मरती है और न किसी को मारती ही है। यदि तुमने ज्ञान प्राप्त कर लिया है तो तुम मरने-मारने के पाप से दूर चल गए हो।'

विजय और हौतात्म्य

मत्सीनी ने एक जगह कहा है, 'जो मनुष्य धर्म के लिए जान देने पर तैयार होता है उसकी रक्षा और पथ-प्रदर्शन के लिए विजय और हौतात्म्य के देवता—फतह और शहादत के फरिश्ते—विद्यमान रहते हैं। धर्मयुद्ध में पहले तो विजय प्राप्त

---

* य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते॥

होती है। यदि विजय न हो तो शहादत का फरिश्ता अपने पर फैलाए उसकी आत्मा को आकाश पर ले जाता है।' भगवद्‌गीता के अध्याय दो के श्लोक ३७* में भी यही भाव प्रकट किया गया है, 'इस धर्मयुद्ध में यदि तुम जीत जाओगे तो राज्य करोगे, यदि मारे जाओगे तो स्वर्ग पाओगे। इसलिए अर्जुन! तुम धर्मयुद्ध के लिए तैयार हो जाओ।'

महाभारत में जब कुंती श्रीकृष्ण के द्वारा अपने पुत्र युधिष्ठिर को सदेश भेजती है तो उसमें एक स्त्री विदुला का अत्यंत सुंदर दृष्टांत देती है। विदुला के पुत्र से शत्रुओं ने राज्य छीन लिया है और वह पहाड़ों में जा छिपा है। विदुला अपने पुत्र से कहती है, 'तुम किसके वीर्य से हो? न अपने पिता के, न माता के! तुममें न कोप है, न ताप। तुम्हें पुरुषों में कौन गिनेगा? तुम तो नपुंसक हो, जो मैदान से भाग आए हो। क्षत्रिय का बेटा शेर की तरह जंगल में निर्भय घूमता है। उठ! भय को छोड़! अपमान का जीवन घृणित है। ...जिसमें साहस नहीं, वह पुरुष ही नहीं। जिसमें शर्म नहीं, वह निर्लज्ज न पुरुष है, न स्त्री। उससे न मित्रों को सहायता मिलेगी, न प्रजा को आश्रय, न पिता का नाम ही रहेगा और न माँ की छाती ठंडी होगी।' लड़का बोला, 'माँ, तुमको क्या सुख मिलेगा, अगर तुम्हारा लड़का मारा जाएगा?' माता ने उत्तर दिया, 'मरना-जीना तो नित्य लगा रहता है, उसको कौन रोक सकता है? जो रणभूमि में मरता है, स्वर्ग प्राप्त करता है।' तब उसको उत्साह देने कि लिए उपदेश दिया है कि तुम इन उपायों से अपनी शक्ति बढ़ाओ और फिर अपना राज्य वापस लेने का यत्न करो। और अगर कुछ नहीं कर सकते हो तो संसार में ऐसे अवसर आते हैं, जब एक बार जलकर चमत्कार दिखा देना देर तक सुलगते रहकर धुआँ पैदा करते रहने से कई गुना अच्छा होता है।

धृतराष्ट्र ने ऋषि संजात से पूछा, 'क्या मौत का अस्तित्व है?' ऋषि ने उत्तर दिया, 'मौत है भी और नहीं भी। यह तो देखनेवालों की आँखों पर अवलंबित है। मृत्यु केवल अज्ञान का परिणाम है। ज्ञानी के लिए मृत्यु का कोई अस्तित्व नहीं। अज्ञान के कारण इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा से काम-भाव और क्रोध आते हैं, जो मनुष्य को मृत्यु के पंजे में फँसाते हैं। जिस मनुष्य में इच्छा नहीं, उसे मृत्यु का खटका नहीं।' मृत्यु और जन्म सिर्फ तब्दीली के नाम हैं। यदि मृत्यु नहीं होगी तो परिवर्तन का नियम बंद हो जाने से जन्म भी नहीं होगा।

---

* हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

कर्तव्य का ज्ञान और देश-काल

परिस्थिति को अच्छी तरह समझने से कर्तव्य का ज्ञान होता है। देश, काल और कारण का जानना परिस्थिति का जानना है। अपने देश तथा जाति की अवस्था जानने के लिए थोड़ा पीछे जाने की जरूरत है। जो लोग इस देश में रहते हैं, उनको आर्य और हिंदू कहा गया है। जाति का नाम तो आर्य है। इसी जाति से ईरानी और यूरोपीय राष्ट्र संबंध रखते हैं। ये लोग अपने आपको 'आर्य' ही कहा करते थे; किंतु जब ईरानियों को उनसे बिछुड़े युग बीत गए तो फिर उन्होंने अलग अपनी उन्नति करके इस देश में आने का विचार किया। अटक नदी पर उन्होंने इसका नाम पूछा तो संस्कृत में 'सिंधु' बताया गया। पारसी लोग 'स' की ध्वनि को 'ह' से बदल देते हैं। उन्होंने 'सिंधु' को 'हिंदु' बनाकर नदी और लोगों को इस नाम से बुलाना शुरू किया। उसके बाद यूनानी लोग इस देश में आए। उन्होंने पारसियों से सुनकर 'हिदू' नाम में 'ह' की आवाज न बोलते हुए इस देशवालों को 'इंदु' नाम से अभिहित किया, जिससे 'इंद' और 'इंडिया' प्रचलित हुए। ये शब्द यूनान से इटली और वहाँ से शेष यूरोप में फैले। इस प्रकार 'हिंदू' शब्द दूसरे लोगों की तरफ से इस देश और जाति के लिए प्रयुक्त होने लगा। मुसलिम शासन के समय 'हिंदू' का अर्थ स्वभावत: बुरा समझा जाने लगा। चाहे कई शताब्दियाँ पूर्व चीनियों ने लिखा था कि यह शब्द 'इंदु' है, जिसका अर्थ 'चंद्रमा' है। इसका विवेचन करते हुए एक यात्री ने लिखा, 'आकाश में लाखों सितारे होते हैं, परंतु अँधेरा रहता है। जैसे चाँद सब सितारों को मात करके ब्रह्मांड को प्रकाशमान कर देता है वैसे ही इस देश के प्रकाश ने जगत् को प्रकाशित किया है।'

विभिन्न आंदोलनों का उद्देश्य—जाति-रक्षण

आर्यों की जितनी शाखाएँ संसार में फैली हैं, उनमें से केवल हिंदुओं ने अपनी नस्ल की सभ्यता को असली हालत में कायम रखने की कोशिश की है। यूरोप की आर्य शाखाएँ यहूदी विचारों के अंदर मिल गईं। एशिया की अन्य आर्य शाखाओं ने इसलाम के द्वारा अरब की सभ्यता को ग्रहण किया; लेकिन हिंदुओं ने अपनी सभ्यता या अस्तित्व बनाए रखने के लिए (मुसलिम शासन के दिनों में) बड़ा त्याग किया है।

जिस प्रकार यूरोपीय जाति के लोग बाहर से आकर आजकल हमारी सभ्यता को उलटना चाहते हैं उसी तरह एक समय था जब मुसलमानों ने ऐसा करने का यत्न किया। इसके बावजूद वे यहाँ आबाद हो जाने के बाद भी विदेशी समझे

जाते रहे, जैसे आजकल यूरोपीय जातियाँ समझी जाती है. जैसा उस जमाने मे अपनी सभ्यता या धर्म को बचाने के लिए राजपूतों, मरहट्टों और पंजाब के सिखों ने काम किया वैसे ही इस युग में ईसाइयत से अपनी सभ्यता की रक्षा के लिए लोगों का जोश कई आंदोलनों में प्रकट हुआ। मद्रास में थियॉसोफी, बंगाल के स्वामी विवेकानंद का कार्य, महाराष्ट्र में स्वदेशी, संयुक्त प्रांत में गोरक्षिणी—ये सब एक उद्देश्य के अनेक प्रत्यक्ष रूप हैं।

इन सबसे बढ़कर आर्य समाज ने अपना असर पैदा किया है। प्रश्न उठता है कि स्वामी दयानंद का वास्तविक उद्देश्य क्या था। क्या वह लक्ष्य स्वामीजी की पुस्तकों में है? क्या वह लक्ष्य समाज के नियमों में है? यद्यपि स्वामी दयानंद ने अपनी राय बदली, आर्य समाज के नियमों में समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन किए और जीवित रहते तो शायद फिर बदल देते। फिर भी उनके मन में, आरंभ से अत तक, वेद-धर्म या हिंदू संस्कृति के लिए अटल और निस्सीम प्रेम था। यही एक भाव स्वामी दयानंद के जीवन और मृत्यु का आदर्श था। यह वही भाव है, जो राजकुमारी ने रोते हुए प्रकट किया था, 'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, वेदों की रक्षा कौन करेगा?' इसी कार्य—वेद-धर्म की रक्षा के लिए स्वामीजी ने अपनी विद्या, बल और जीवन का बलिदान कर दिया। इसी उद्देश्य को सामने रखकर आर्य समाज स्थापित किया। आर्य समाज का कार्य एक ही है। वह ऐसे ब्राह्मण पैदा करता है, जो वैदिक धर्म की रक्षा करें। केवल शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ ब्राह्मण उत्पन्न नहीं कर सकतीं। यदि आर्य समाज में जीवन हो तो वह प्रत्येक स्थान से ऐसे पुरुष पैदा कर सकता है, जिनका ब्राह्मण जीवन हो।

आदर्श और उत्कर्ष या अपकर्ष

बहुधा सुना है, 'आजकल तो संसार उन्नति कर रहा है।' क्या तुम फिर पुराने जमाने को वापस लाना चाहते हो? अभी तक यूरोप का विकास ही हमारा आदर्श रहा है। यूरोप के गत महायुद्ध ने बताया है कि यह सब उन्नति किधर जा रही है। इसकी दिशा सभी राष्ट्रों में एक ही थी, अर्थात् ऐसे साधन उत्पन्न करना जिनसे दूसरे राष्ट्रों को आसानी से नष्ट किया सके। नियम दूसरा है। संसार में राष्ट्र उत्पन्न होते, बढ़ते और गिरते हैं। आदर्श की ओर जाने का नाम उत्कर्ष और दूर हटने का नाम अपकर्ष है। हमारे लिए प्रश्न यह है कि विक्रमादित्य का काल हमारे लिए आदर्श है या नहीं? उस युग की सभ्यता को वापस लाना हमारे लिए उत्कर्ष है या अपकर्ष? शास्त्रों में कहा गया है, 'मरा हुआ धर्म मार देता है, रक्षा किया गया धर्म

बचा लेता है .[१] धर्म की रक्षा ही राष्ट्रीय जीवन की रक्षा है।

जर्मन दार्शनिक शॉपनहावर[२] उपनिषदों के फारसी अनुवाद को पढ़ने के बाद इस परिणाम पर पहुँचा, 'उपनिषद् बनानेवालों की संतति को हमारी ईसाई मिशनरियाँ क्या सिखलाएँगी! मानव समाज की प्रारंभिक सभ्यता को गैलिलियो के तथ्य और कहानियाँ मिटा नहीं सकतीं।' बल्कि मेरा विश्वास है कि इसकी एक लहर फिर यूरोप में फैलेगी और हमारे ज्ञान तथा विचारों में क्रांति उत्पन्न करेगी।

मज़हब और राजनीति

चिरकाल की धार्मिक शिक्षा ने हमारे स्वभाव में एक विशेष रुचि उत्पन्न कर दी है। मज़हब के विषयों के लिए तथा मज़हबी बातों में हमारा दिन-रात खर्च होता है। ज्यों ही किसी सांसारिक या राजनीतिक बात का उल्लेख हुआ, हमारा मन उससे घृणा करने लगा। ध्यान देने पर मालूम होता है कि राजनीति मज़हब का अंग है। कोई मज़हब राजनीति से खाली नहीं। जहाँ पर मज़हब मौत के बाद की अज्ञेय बातों की तरफ हमारा ध्यान दिलाता है वहाँ पर राजनीति सभी सांसारिक मामलों को हमारे सामने रखती है। सच तो यह है कि यह जिंदगी अच्छी होने के बाद ही मृत्यु के उपरांत का जीवन अच्छा होने की आशा हो सकती है। राष्ट्र की आर्थिक, सांस्कृतिक, शारीरिक तथा शिक्षा संबंधी उन्नति के सब विषय राजनीति के अंतर्गत हैं। हिंदुओं के पतन का सबसे बड़ा कारण जन-साधारण की राजनीति से उदासीनता है। मुसलमानी आक्रमणों के समय में कोई नीच-से-नीच आदमी उठा और अपने साथ एक गिरोह इकट्ठा करके अपना अधिकार जमा बैठा। लोग उसके शासन में ही संतुष्ट हो गए।

यदि सुबह उठकर नहाना धर्म है तो देशवासियों के स्वास्थ्य की रक्षा के कानून जारी करना, जिनसे प्लेग, हैजा आदि से दूर होकर लाखों जानें बचें, धर्म क्यों नहीं? अगर चोरी न करना धर्म है तो देश से दरिद्रता और भूख दूर करने के लिए कला-कौशल को उन्नति देना धर्म कैसे नहीं? भूख को 'सब पापों की जड' कहा गया है।

शिक्षा एक नदी की लहर के समान है। वह सींचकर हमें समृद्ध कर सकती है और बाढ़ की तरह हमारे नगरों को बरबाद भी कर सकती है। इसकी प्रणाली को

---

१ धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

२ शॉपनाहवर, देखें, डब्ल्यू.टी. जोन्स, 'ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी', पृ. ९००।

ठीक रखना धर्म क्यो नहीं? भाषा हमारे धर्म की रक्षक है अपनी सतान की शिक्षा अपनी भाषा में करवाना और ज्ञान के उत्तर ग्रंथ उसमें जारी करना धर्म कैसे नही?

राजनीति का एक विशेष पहलू

राजनीति का एक और पहलू है, जो संकट और मुसीबत के समय शत्रुओं के साथ बरताव के संबंध में है। महाभारत में इसका उल्लेख है। वर्तमान राजनीति का यह एक प्रकार से बीज-मंत्र है। एक चूहे के उदाहरण से इसे स्पष्ट किया गया है। उस चूहे ने अपने तीन शत्रुओं—बिल्ली, नेवला और उल्लू—से एक साथ घिरे रहने पर भी चालाकी से अपनी जान बचाई।

एक शिकारी जाल लगाकर पक्षी फँसाया करता था। उसमें एक बार एक जंगली बिल्ली फँस गई। एक चूहा वहाँ रहा करता था। वह बाहर निकला और शिकारी ने मांस का जो टुकड़ा वहाँ डाला था, उसे कुतरने लगा। इतने में नेवले ने उसे ताड़ लिया और पास ही खड़ा हो गया। चूहे की दृष्टि ऊपर जो गई तो उसे अपना एक और शत्रु उल्लू दिखाई दिया, जो पेड़ पर बैठा था। चूहा डर गया। जाए तो किधर जाए? दो शत्रु ताक में थे, तीसरा—बिल्ली—मुसीबत में फँसी थी। चूहे ने सोचा, इस समय नीति से काम लेकर शत्रुओं से बचना ही दूरदर्शिता होगी। वह बिल्ली के पास गया और बोला कि 'मैं इस समय तेरी सहायता कर सकता हूँ, अगर तू मुझे हानि न पहुँचाए।' बिल्ली की जान पर बनी हुई थी। वह इस प्रस्ताव पर बहुत खुश हुई और चूहे की खुशामद करने लगी। वह बोली, 'तू जो भी कहेगा, मैं करूँगी।' दोनों में मित्रता हो गई। चूहा बिल्ली के पास चला गया। उल्लू और नेवला हैरान हो गए। किंतु अब उन्हें साहस न था कि चूहे को बिल्ली से छीन लें। दोनों निराश होकर चले गए। चूहे ने धीरे-धीरे अपने दाँतों से जाल को काटना शुरू किया। उसका भाव यह था कि सुबह होने तक वह यह काम करता रहे, जब तक वह शिकारी न आ जाए।

प्रात:काल हुआ। शिकारी आता दिखाई देने लगा। बिल्ली गिड़गिड़ाने लगी कि 'भैया, जल्दी करो, वह आ रहा है।' चूहा बोला, 'घबराओ मत, मैं कर रहा हूँ।' बिल्ली बहुतेरा कहती रही, किंतु उसने अपनी गति नहीं बढ़ाई। जरा सी गाँठ बाकी थी। जब शिकारी सिर पर आया तो चूहे ने वह भी काट दी। बिल्ली को अपनी जान का खतरा था, वह झट वहाँ से भाग निकली और चूहा भी मजे से अपने बिल में घुस गया। बिल्ली बच तो गई, किंतु उसे भूख लगी थी। वह चूहे के बिल के पास आई और कहने लगी, 'भाई चूहे! तुमने मेरी जान बचाई है। एक बार बाहर तो

निकलो, ताकि मैं तुमसे प्रेम करूँ।' चूहा बोला, 'तुम मेरी शत्रु हो। उस समय तुम्हारा भी स्वार्थ था, मेरा भी। इसलिए हमारी मित्रता हो गई। अब मेरे साथ तुम्हारा क्या प्रयोजन है? तुम बाहर से ही प्रेम की बातें करो, मैं सुन लूँगा, किंतु बाहर नहीं आऊँगा।' दोनों के ये संवाद बड़े रोचक और शिक्षाप्रद हैं।

शत्रु को गिराने के उपाय

बलवान् शत्रु निर्बल शत्रु को किस प्रकार से गिराने की कोशिश करते हैं, महाभारत में इसका उल्लेख अर्जुन के संबंध में पाया जाता है। जब पांडव द्रौपदी को साथ लिये वन को जा रहे थे तो व्यासजी जाकर उनसे मिले। उन्होंने युधिष्ठिर को एक तरफ ले जाकर उपदेश देना शुरू किया। उन्होंने कहा, 'तुम लोगों को अपने अधिकार पुनः प्राप्त करने के लिए अपने आपको तैयार करना चाहिए। तुम क्षत्रिय हो। केवल वन में रहने से सफलता की कोई आशा नहीं दिखती। तुमको शस्त्र-विद्या में पूर्ण अभ्यास करना चाहिए, ताकि तुम अपना उद्देश्य पूरा कर सको।' अर्जुन को एक विशेष स्थान पर जंगल में रहकर शस्त्राभ्यास करने के लिए रवाना किया गया। उधर दुर्योधन को इस योजना का पता लग गया। उसने अर्जुन को इससे हटाने के लिए कई उपाय बरते। पहला उपाय था उपदेश। दुर्योधन के आदमी ब्राह्मण के वेश में अर्जुन के पास पहुँचे और उसे समझाने लगे, 'तुम इस पवित्र वन मे शस्त्रों का अभ्यास क्यों करते हो? यहाँ के पक्षी निर्दोष और सीधे हैं, उनको डराने का क्या लाभ? तुम वनवासी हो, यहाँ ऋषियों का जीवन व्यतीत करो। शस्त्रों की यहाँ क्या आवश्यकता है? तुम मोक्ष की इच्छा करो।' अर्जुन ने उत्तर दिया, 'न मुझे मोक्ष की इच्छा है, न भोग की। मैं न सुख चाहता हूँ, न धन। मैं अपने भाइयों को जंगल में छोड़ आया हूँ और अपने शत्रु से बदला लेने की तैयारी कर रहा हूँ। मेरा धर्म तो बस यही है।' उन्हें अपना सा मुँह लेकर लौटना पड़ा।

दूसरा उपाय अर्जुन को डराने का था। ऐसे सिखाए हुए जंगली पशु उसके रहने की गुहा में भेजे गए, जो जाकर उसे मार डालें। अर्जुन ने बाणों से उन्हें समाप्त कर दिया। तीसरा उपाय था सुंदर स्त्री भेजकर उसे गिराने का। वेश्या ने जाकर बहुत प्रलोभन दिए, परंतु अर्जुन सच्चा तपस्वी था। वह कहने लगा, 'मैं यह तप कर रहा हूँ, स्त्री मुझे माता ही दिखाई देती है।'

इन सब धोखों से बचते हुए अर्जुन ने अपने तप में पूर्ण सिद्धि प्राप्त की। राजनीतिक संसार में सदा से ही लालच, भय और स्त्री-प्रलोभन शत्रु को गिराने के लिए इस्तेमाल किए गए हैं। राजनीतिक चरित्र उसी का है, जो उनसे बचने की

हिम्मत रखता हो इन प्रलोभनो के अदर फँसकर मनुष्य जाति द्रोह करता है परतु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक राजनीतिक कार्य में पर्याप्त बुद्धि या विचार का न होना इतनी ही हानि करता है जितना विद्रोह। मूर्खता और विद्रोह एक ही प्रकार के शत्रु हैं।

भारत पर अंग्रेजी शासन का प्रभाव

इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेज जाति के द्वारा भारत का भला जरूर हुआ है। दो पत्थर मिलते हैं, उनमें रगड़ पैदा होती है। एक पर दूसरे की क्रिया से अग्नि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार दो समाजों के मेल से उनकी परस्पर क्रिया होती है, जो कई नई शक्तियों को जन्म देती है। इसी को 'क्रिया और प्रतिक्रिया' का नियम कहा जाता है। भारत के पतन का यदि कोई वास्तविक कारण है तो यह कि यहाँ का समाज चिरकाल तक ऐसे एकांत की स्थिति में रहा कि संसार के साथ उसका कोई संबंध ही न रहा। इसमें स्वस्थ रगड़ न होने से जीवन के लक्ष्य ही नहीं रहे थे। बौद्ध मत ने कुछ रगड़ पैदा की, जिसके फलस्वरूप त्याग के चिह्नों के रूप में सैकड़ों प्रकार के साधु-संन्यासी अभी तक देश में पाए जाते हैं। जब इसलाम की लहर चली तो उत्तर-पश्चिम की ओर से एक नई क्रिया हिंदू समाज पर हुई। इस क्रिया का एक राजनीतिक पक्ष यह था कि लूटमार के आधार पर असंख्य व्यक्तिगत राज्य देश में स्थापित हो गए। जफर खाँ जैसे कितने ही आदमी उठे, जिन्होंने अपने शासन स्थापित कर लिये। राजनीतिक दृष्टि से जन-साधारण केवल एक भैंस की तरह थे, जिसके हाथ में लाठी होती उसके आगे चल पड़ते। परिणाम यह हुआ कि हिंदुओं मे ऐसे व्यक्ति पैदा हो गए, जिन्होंने इसी ढंग को अपना लिया और कई हिंदू राज्य स्थापित कर लिये। मराठे, जाट और सिख राज्य इसके उदाहरण हैं जिनकी बची हुई रियासतें हाल तक दिखाई देती थीं। अंग्रेजी राज्य की नींव भारत में स्वजाति-प्रेम के भाव में है। उन्होंने अपनी बुद्धि और देशभक्ति के बल पर अपना साम्राज्य खड़ा किया है। इस कारण अंग्रेजी राज्य में आकर न केवल भिन्न-भिन्न प्रांतों और समाजों में एकता की भावना पैदा हुई है, बल्कि पहली बार यह ज्ञान प्राप्त हुआ है कि समाज का प्रत्येक सदस्य—छोटे-से-छोटे से लेकर बड़ों-से-बड़ों तक—विशेष राजनीतिक अधिकार रखता है। गिरोहों के या वैयक्तिक स्वार्थों को सामने रखकर स्वतंत्रता बनाए रखने या प्राप्त करने के जो प्रयत्न किए गए हैं, वे अंग्रेजी राज्य के साथ टकराकर चूर-चूर हो गए।

अंग्रेजी संपर्क का गहरा प्रभाव भारत में मनुष्य के राजनीतिक अधिकारों के

आधार पर देशप्रेम की लहर का चलना है। यह राष्ट्र-भाव एक दृष्टि से नया है। यह भाव एक तरह की अग्नि है, जिसमें हिंदुओं की ऊँच-नीच की प्रवृत्ति एवं हिंदू-मुसलमान आदि के मज़हबी मतभेद जलकर राख हो सकते हैं और उनके स्थान में मानवी स्वतंत्रता तथा समानता की सुगंध निकल सकती है। इस आग में भारत के सदियों के पाप और मलिनता जल जाएगी; किंतु इस आग को प्रज्वलित करने के लिए निजी स्वार्थ की आहुति देने का कर्तव्य भी है।

अंग्रेज जाति ने भारत में शांति और मानवी समानता पैदा करके लोगों के दिलों को जीत लिया। समय आया, जब लोगों ने देखा कि यद्यपि वे आपस में एक-दूसरे के समान हैं, किंतु दूसरों की तुलना में उनके साथ बहुत नीच समझकर बरताव किया जाता है। दूसरा यह कि शांति का प्रयोजन उन दोनों को उन्नत करना नहीं, राज की अशांति को दूर रखकर भारत का आर्थिक व व्यापारिक शोषण करने का है। अंग्रेज जाति के अंदर एक विचार व्यापक मालूम होता है कि भारत पर सदा-सर्वदा के लिए उनका कब्जा बना रहे। अगर लोगों के हृदय अंग्रेजी राज्य के साथ हों तो वह कब्जा मित्रता का रूप ले लेता है, साथ न हो तो गुलामी का। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि राज्य के छह दुर्गों में प्रजा का प्रेम सबसे दृढ़ दुर्ग है। प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे लोगों के दिल उसके साथ रह सकें। इसका केवल एक ही उपाय है। वह यह कि अंग्रेज जाति के हृदय में यहाँ के लोगों के लिए कम-से-कम इतना सम्मान और प्रेम तो हो ही, जो मनुष्य के लिए होना आवश्यक है। मुझे तो यह प्रश्न आर्थिक लाभ या देश की बड़ाई का इतना नहीं प्रतीत होता जितना सम्मान का। यदि भारत को साथ रखते हुए अंग्रेजों का राजनीतिक महत्त्व बढ़ता रहे तो इसमें हमारे लिए दुःख का कोई कारण नहीं। यदि उनके व्यापार को विशेष लाभ हो तो उसमें कोई हानि नहीं। जैसे जातियों के विभिन्न वर्गों में व्यापार आवश्यक है वैसे ही अलग-अलग जातियों में भी पारस्परिक व्यापार जरूरी है। अंग्रेज जाति के अंदर धनी वर्ग विद्यमान है, जो निर्धन वर्गों का लाभ उठाता है। जब तक संसार में आर्थिक समानता कायम नहीं की जाती तब तक यह नियम प्रचलित रहेगा। हमारा उद्देश्य केवल इतना है कि हमारा अस्तित्व संसार से मिट न जाए। राष्ट्रीय सभ्यता का नाश करना उस जाति को संसार से मिटाना है। ब्रिटिश चर्च और सभ्यता का बीज उनका अपना नहीं है, बल्कि उसमें यहूदी जाति के किस्से-कहानियाँ भरे हैं। जाति या कुल की दृष्टि से अंग्रेज यहूदी जाति से नहीं, आर्य जाति से मिलती है। आर्य जाति की आरंभिक सभ्यता को केवल हिंदुओं ने अब तक बचाए रखा है।

आर्य नस्ल होने के कारण अंग्रेज जाति का कर्तव्य है कि सभ्यता की रक्षा में सहायता दे।

भाषा का विनाश और राष्ट्रीयता

जहाँ-जहाँ अरब लोगों ने विजय पाई वहाँ-वहाँ के लोगों को अपने साथ संबद्ध करने के लिए वहाँ के लोगों की सभ्यता मिटाकर उन्होंने अपनी सभ्यता और भाषा फैलाई। ईरान और मिस्र में उन्होंने पुरानी भाषाओं की जगह अरबी भाषा प्रचलित की। जर्मन लोगों ने एल्सास और लॉरेन के प्रदेशों को विजित करने के पश्चात् उनमें फ्रांसीसी भाषा के स्थान में जर्मन भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाने की कोशिश की। आयरलैंड में आयरिश की जगह अंग्रेजी भाषा को पूर्ण विजय प्राप्त हुई। यूरोपीय जातियों ने असभ्य जातियों के अंदर तो ऐसा करना आवश्यक कर्तव्य समझ रखा है। भारत में अंग्रेजी को अदालतों की तथा उच्च शिक्षा की भाषा निश्चित कर अंग्रेजों ने भी यही किया है। लोगों का आंग्लीकरण करना उन्होने अपने लिए लाभप्रद समझा है। निस्संदेह दूसरों को अपने साथ संबद्ध करने का एक तरीका यही है कि उनके अंदर अपनी सभ्यता के लिए प्रेम पैदा किया जाय। किंतु यह ठीक होता, यदि भारतीयों की संख्या थोड़ी सी होती। यद्यपि अंग्रेजी सभ्यता पर मोहित एक वर्ग यहाँ पैदा होता रहेगा, किंतु वह सदा समाज से पृथक् होता जाएगा। इसलिए भारतीयों को अपने साथ जोड़ने का जो दूसरा ढंग अंग्रेज जाति इस्तेमाल कर सकती है, वह यह कि वह अपनी जाति के अंदर यहाँ की सभ्यता के लिए प्रेम और अनुराग तथा यहाँ की भाषा व साहित्य को सीखने का शौक पैदा करे। साथ ही इस देश की भाषा और साहित्य को उन्नत करने के लिए अदालतों व विश्वविद्यालयों की भाषा के रूप में प्रचलित कर दे। यह आसानी से किया जा सकता है कि जो अग्रेज यहाँ सरकारी नौकरी में आएँ, वे यहाँ की भाषा और साहित्य के सुपरिचित हों। उन्हें शिक्षा देने का यथोचित प्रबंध होना चाहिए। उनके हृदयों में हमारे लिए प्रेम होगा और उस प्रेम से हमारे दिलों को जीत सकेंगे। यहूदी लोग रोम के सम्राटों के अधीन थे। यूनान और रोम के लोगों ने उनसे अपना मज़हब प्राप्त किया और सारे यूरोप की आर्य जातियों को यहूदी मत का अनुयायी बनाया। क्या आपत्ति है, यदि अंग्रेज अपने विजितों से प्रारंभिक आर्य सभ्यता को ग्रहण करके फिर से आर्य जाति में विचार करें?

कहते हैं, एक व्यक्ति को कहीं जाते हुए पहाड़ की चोटी पर एक भूत जैसा दिखाई दिया। आगे बढ़ने पर उसने देखा कि वह एक आदमी है। आगे चलकर जब

वे एक-दूसरे से मिले तो पता लगा कि वह उसका अपना भाई है। यद्यपि अंतर बड़े दीर्घकाल का है; किंतु अगर इसी फासले को मन में तय करके देखेंगे तो यूरोपीय जातियाँ हिंदू सभ्यता को ईसाई मत की तुलना में अपना पाएँगी।

हिंदू-मुसलमानों का पारस्परिक संबंध

इस देश में मुसलमानों की आबादी का खासा हिस्सा है। अब जमाने के बदलने के साथ उनमें इस देश को अपना समझने का कुछ भाव पैदा हुआ है। लेकिन अब तक उनके अंदर स्वदेश-प्रेम के बजाय मज़हबी जोश ही काम करता आ रहा है।

मुसलमान अरबी सभ्यता के प्रेमी थे। इसलिए उस सभ्यता के साथ इसलाम का प्रसार ही उनका उद्देश्य व कार्य रहा। देशप्रेम ने अब एक दृढ़ भाव पैदा कर दिया है कि राजनीतिक दृष्टि से हिंदुओं के साथ उनका एक राष्ट्र है और एक राष्ट्र के रूप में ही वे उन्नति कर सकते हैं। इसके साथ वे अपना मज़हबी अस्तित्व बनाए रखना चाहते हैं। अपनी सत्ता कायम और मजबूत रखते हुए वे हिंदुओं के साथ एक होकर काम करने के लिए तैयार हैं। जिसकी अपनी सत्ता नहीं, उसे दूसरों के साथ एकता की क्या जरूरत? उसे उत्साह व त्याग की क्या आवश्यकता? दूसरों के साथ मेल और त्याग लोग इसलिए करते हैं कि इसमें वे अपनी भलाई देखते हैं।

हमारे जीवन का बड़ा भाग अपनी सांसारिक उन्नति में व्यय होता है। राष्ट्र की सांसारिक उन्नति में हर सदस्य का हित पाया जाता है। इसलिए उचित एवं आवश्यक यही प्रतीत होता है कि झगड़े की बातों के फैसले का कोई रास्ता निकालकर हम पारस्परिक द्वेष के भाव को दूर करने का यत्न करें।

विवादास्पद बातों में सर्वप्रथम है मत-परिवर्तन। अकारण ही मज़हबी फसाद की चिनगारी डालकर परस्पर द्वेष उत्पन्न करना कोई अर्थ नहीं रखता। यदि मजहब बदलने की इज़ाज़त हो तो दोनों मतों के हर व्यक्ति को उसमें पूर्ण स्वतंत्रता रहे। इस प्रश्न को कभी जातीय रूप न दिया जाय। भाषा का भेद तो नाममात्र है, क्योंकि हिंदी और उर्दू—दोनों भाषाएँ वस्तुत: एक हिंदुस्तानी भाषा ही हैं, केवल लिपि का अंतर है। एक की बजाय दोनों प्रकार की लिपियाँ साझी समझी जा सकती हैं। इसके साथ अन्यान्य प्रांतों में बँगला, मराठी, गुजराती आदि का रिवाज़ है। पंजाब में पंजाबी को वह स्थान मिलना चाहिए।

गोवध के प्रश्न पर दोनों पक्षों को विचार से काम लेना चाहिए। अगर कोई मुसलमान किसी मज़हबी विश्वास के लिए गोवध जरूरी समझे तो हिंदुओं का दिल

न दुखाकर गुप्त रूप से अपनी रीति को निभा ले दिखाकर भावनाओ को भडकाना बुरा है। कम-से-कम यह तो सर्वथा बंद कर देना चाहिए। वैसे, देश का साझा सास्कृतिक लाभ तो इसी में है कि गाय की रक्षा हर हाल में की जाए।

हिंदू संस्कृति की रक्षा हमारा कर्तव्य है

वेद हिंदुओं के धर्म का एक चिह्न है और गौ उनकी राजनीतिक एकता एव आर्थिक उन्नति का। हिंदू की एक परिभाषा ठीक ही यह की गई है कि जो गौ और ब्राह्मण की रक्षा करे, वह हिंदू है। ब्राह्मण वेद का रक्षक है।

राजनीतिक दृष्टि से नेपाल, जो एक हिंदू रियासत है, अपेक्षयां स्वतंत्र है। वहाँ धर्म का यह अंग विद्यमान है। उसको वर्तमान काल के अनुरूप बनाना हिंदू सभ्यता की रक्षा का एक तरीका है। सभा (समाज) और सभ्यता एक ही धातु से निकले हैं।

हिंदुओं को यह याद रखना चाहिए कि यदि उनकी सभ्यता या संस्कृति संसार से मिट गई तो उनका अस्तित्व ही मिट गया। धर्म और संस्कृति का त्याग करके न जीना अच्छा है, न मरना। धन-धान्य की परवाह न करके प्राणों की रक्षा करनी चाहिए और प्राणों की परवाह न करके धर्म की रक्षा करनी चाहिए। धर्म और सम्मान एक ही हैं।

इस राष्ट्र का लक्ष्य एक ही रहा है। इसने असंख्य तूफान झेलकर संसार की सबसे प्राचीन संस्कृति को बचाया है, जो किसी और से नहीं हुआ। गुलामी बुरी चीज है और राजनीतिक स्वतंत्रता की प्रशंसा में यहाँ तक कहा गया है कि इसके लिए हमें सबकुछ बलिदान करने हेतु तैयार रहना चाहिए। इसका कारण यह है कि गुलामी में जातियाँ अपनी सत्ता गँवा देती हैं। अपनी सत्ता को खोकर यदि स्वतंत्रता मिले तो वह स्वतंत्रता किसी काम की नहीं। देश के वर्तमान संघर्ष में हिंदुओं को सबसे बढ़कर खतरा है। यह जाति काफी पुरानी और बूढ़ी हो चुकी है; कर्तृत्व है, न शक्ति, जीवन के चिह्न लुप्तप्राय हो चुके हैं। गिरावट इतनी आ गई है कि इसकी अपनी ही संतान इससे घृणा करती है और इसके नाम से घबराती है। बुढ़ापे के अतिरिक्त छूत का भयानक रोग इसे अंदर से खोखला कर रहा है। जिन जातियों को हमने नीच मानकर अछूत बना रखा है, वे हमारे पापों की जंजीर बन रही हैं। केवल एक विचार मनुष्य को मनुष्य बनाता है, वह यह कि वह सबके बराबर है और उसे सब अधिकार प्राप्त हैं। मज़हबी और सामाजिक अन्याय के नीचे दबे हुए लोगों में साहस और वीरता पैदा नहीं हो सकती है। जब हम अंग्रेज जाति से समानता और

न्याय की माँग करते हैं तो पहले अपने भाइयों को समानता और न्याय देना हमारे लिए आवश्यक है, अन्यथा समानता और न्याय की चर्चा छल-कपट मानी जाएगी। हमारी रस्मों में जड़ता भरी है। विवाह की रीति देखिए। लड़के-लड़कियाँ बैठे हैं। उनके स्थान पर प्रतिज्ञा के वेदमंत्र पुरोहित पढ़ देता है, उन्हें उसके अर्थ ही मालूम नहीं। यज्ञोपवीत संस्कार के समय आठ वर्ष का बालक खाल पहनकर, डंडा हाथ में लेकर वन में गुरु के पास विद्याभ्यास के लिए जाता है और कुछ ही क्षणों में सब विद्या संपूर्ण करके लौट आता है। मूर्तिपूजा में यदि कुछ तथ्य था तो वह लुप्त हो गया और ढाँचा मात्र रह गया। वही सोमनाथ, जिसके लिए शुद्ध गंगाजल लाने के काम पर हजारों नौकर लगे हुए थे, जिनके सामने पूजा के समय हजारों कन्याएँ नृत्य किया करती थीं, यदि उस पर विश्वास होता और दिखावा न होता तो महमूद गजनवी के आक्रमण के समय राजपूत प्राण पर खेल जाते। इसी प्रकार कई अन्य तमाशे और कपट अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए किए जाते हैं। ये छल-कपट जाति के अंदर घुसकर दीमक की तरह इसे खा रहे हैं।

निराशा के अंधकार में आशा की किरण

सांत्वना की एक ही बात है। यदि यह जाति और इसकी संस्कृति इतने युगों के अंदर विभिन्न आंदोलनों से नष्ट नहीं हुई है तो भविष्य के लिए भी हम निराश नहीं हैं। जातियों का उठना-गिरना लगा रहता है। यदि किसी राष्ट्र की सभ्यता मे ऐसी शक्ति विद्यमान है कि वह उस जाति के अंदर ज़िंदगी कायम रख सके तो अत्यंत पतन की अवस्था में उस सभ्यता (धर्म) के प्रेमी पैदा होते हैं, जो अपने जीवन की संपूर्ण शक्ति मरती हुई जाति में उड़ेल देते हैं और उसे जीवित कर देते हैं। मुसलमानी आक्रमणों के समय हिंदुओं की इतनी मुरदा हालत थी कि एक-एक पठान सिपाही सैकड़ों हिंदुओं को पकड़कर गुलाम बनाकर ले जाता था, या जी मे आया तो कत्ल कर देता था। इसका इलाज गुरु गोविंद सिंह ने निकाला—'बड़े यज्ञ' के लिए सिर देनेवाले सिंह पैदा किए, जिनका नाम उन्होंने 'खालसा' रखा। पुराणों में भी यह उपाय बरता पाया गया है। जब वेद-धर्म का नाश होने लगा था तो ऐसा ही यज्ञ करके 'अग्निकुल' राजपूत पैदा किए गए थे। वह नुस्खा यही है कि आत्मा को मृत्यु के भय से ऊपर उठाओ। मौत का डर दूर हो जाने से मुरदा जीवित हो जाता है। भगवद्गीता में यही ज्ञान अर्जुन को दिया गया है कि 'इस आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, इसे जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती। अर्जुन! तुम भूल करते हो। यदि यह समझते हो कि यह

आत्मा मरती है या इसको कोई मार सकता है गुरु हरगोविंद की वाणी मे गीता का ज्ञान भरपूर है। उनकी चिता जब हजार मन चंदन डालकर बनाई गई तो उनके शिष्य, जिनमें दो बड़े राजपूत थे, दौड़कर उनकी चिता में उनके साथ जलने के लिए कूद पड़े। प्रेम और मृत्यु के प्रति उदासीनता का ऐसा दृश्य जगत् में कम ही दिखाई देता है। इस नुस्खे के बरते जाने से बंदा बहादुर पैदा हुआ, जिसने उन्हीं मुसलमानो का सामना किया। मुसलमान समझते थे कि बंदा सिद्ध है। उसने मृत्यु को जीत लिया है। उसके मुकाबले पर जो सेनापति भेजा जाता था, सेना लेकर वापस हट जाता था। इन्हीं मुरदा हिंदुओं को बंदा वैरागी ने पंजाब भर में विजेता जाति बना दिया। वे निडर हो गए। बंदे को अपने भाइयों की फूट ने पकड़वा दिया और विजेता सेनापति से शत्रु का बंदी बनवाया। ये बंदा के सिख थे, जो दिल्ली में दौड़कर तोप के मुँह में जाते थे। बंदा का बेटा था जिसको चीरकर, उसका हृदय निकालकर बदे के मुँह पर फेंका गया और स्वयं उनको तपी हुई सलाखों से मारा, तब जाकर शरीर छोड़ना पड़ा; किंतु भगवान् का नाम उसकी जिह्वा पर रहा। हमारे वेद-शास्त्र तथा धर्म-रक्षा में आत्माहुति देनेवाले वीरों के उदाहरण न केवल हमारी आशा को मजबूत बनाते हैं, वरन् उनसे हमें सच्ची कर्म-प्रेरणा मिल सकती है। आवश्यकता है उनके मनन की तथा उसके चरित्र का अनुशीलन कर स्फूर्ति प्राप्त करने की। राणा प्रताप, महारानी पद्मिनी, गुरु गोविंद सिंह, बंदा बहादुर और शिवाजी महाराज के त्यागपूर्ण कार्यों के चिंतन से किसी भी मृतप्राय जाति में जीवन-शक्ति का संचार होना असंभव नहीं।

भगवद्गीता में आसक्ति और मृत्यु से लापरवाही

ज्ञान तो यह है कि आत्मा अमर है, मृत्यु उसे मिटा नहीं सकती। इसके साथ ही श्रीकृष्ण अर्जुन से साफ कहते हैं, 'तुम अपना तन-मन मेरे प्रेम के अर्पण करो। मैं तुम्हें इस भयंकर संसार-सागर से पार ले जाऊँगा।' दूसरी शक्ति जो निर्भयता उत्पन्न करती है, प्रेम या इश्क है। प्रेम-भाव का अर्थ है कुरबानी या त्याग। त्याग जितना ज्यादा होता है उतनी ही ज्यादा प्रेम की सचाई मालूम होती है। सच्चा प्रेम त्याग से बना होता है, दिखावे का प्रेम स्वार्थ से।

मजनू का किस्सा सब लोग जानते हैं। वह लैला को प्यार करता था और उसका प्रेमी था। लैला के संकेत पर एक जगह खड़ा हो गया, बिना खाए-पिए वहाँ खड़ा रहा। बहुत समय बीत गया। लैला को उसका ध्यान आया। उसने एक कटोरा दूध एक स्त्री के हाथ भेजा। रास्ते में एक मुल्ला से उसने पूछा कि 'मजनू कहाँ है ?'

उसने कहा क्यो ? स्त्री ने बताया कि लैला ने दूध भेजा है मुल्ला ने कहा मैं ही हूँ।' और दूध लेकर पी गया। कई दिन और बीत गए। ऐसा होता रहा। लैला को कुछ संदेह हुआ। उसने उस औरत से पूछा तो मालूम हुआ कि मजनू बड़ा मोटा-ताजा है और बेफिक्र है। लैला ने खाली कटोरा दिया और स्त्री से कहा, 'जाकर कहो कि आज लैला ने कुछ लहू माँगा है, उसे आवश्यकता है।' जब उस स्त्री ने मुल्ला से जाकर लहू के लिए कहा तो वह झट बोल उठा, 'ओहो! मजनू तो उस झाडी के पास खड़ा है।' वह मजनू के पास कटोरा ले गई और लैला का संदेशा जा बताया। मजनू ने पहले कटोरा चूमा और फिर अपने सूखे पिंजर से लहू निकालकर उसे दे दिया।

यह कहानी प्राय: सब जानते हैं; किंतु इस दृष्टि से यह बहुत सुंदर है कि प्रेम के दो प्रकार स्पष्ट रूप से प्रकट करती है। संसार में दूध पीनेवाले प्रेमी तो बहुत मिलते हैं, खून देनेवाला विरला ही निकलता है।

भगवद्गीता का पढ़नेवाला शायद ही कोई ऐसा होगा, जिसके मन में अपने आपको श्रीकृष्ण के प्रेम में अर्पण करने की इच्छा उत्पन्न न हुई हो। श्रीकृष्ण क्या हैं ? वे हिंदू-राष्ट्रीयता की आत्मा हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण—ये दो नाम हिंदू जाति के प्राण हैं। हमारी राष्ट्रीयता या जातीयता सबसे बढ़कर इन दो नामों से बँधी हुई है। यदि ये दो नाम हमसे बाहर निकल जाएँ तो हमारा राष्ट्र या जाति मृतप्राय हो जाय। यदि हमारा श्रीकृष्ण से सच्चा प्रेम है तो हम निकलें और राष्ट्र के लिए 'अहं' को बलिदान करें।

पक्षी पेड़ पर बैठे थे। पेड़ में आग लगी थी। कवि कहता है—

'आग लगी इस वृक्ष को जलन लागे पात।
तुम क्यों जलो हे पक्षियो! पंख तुम्हारे साथ॥
फल खाया इस वृक्ष का गंदे कीन्हें पात।
यही हमारा धर्म है जलेंगे इसके साथ॥'

बभ्रुवाहन की कथा

इस जाति के अंदर अत्यंत प्राचीन काल से आत्मा को किस प्रकार शरीर से पृथक्, अमर और निर्भय समझा जाता रहा है, यह समय-समय के विभिन्न दृष्टांतों से प्रकट होता है। महाभारत के युद्ध के समय की एक कथा आती है।

एक व्यक्ति बभ्रुवाहन का उल्लेख आता है, जिसे आज तक टेसू महाराज

बनाकर प्रतिवर्ष पूजा जाता है वह हाथ मे धनुष बाण लिये युद्ध क्षेत्र की ओर जा रहा था। श्रीकृष्ण वेश बदले हुए उसके पास पहुँचे। उन्होंने पूछा, 'किधर जा रहे हो?' जवाब मिला, 'युद्ध क्षेत्र की ओर।' उन्होंने प्रश्न किया, 'धनुष-बाण क्यो लिये हुए हो?'

'जब वक्त आएगा तब मैं भी युद्ध में भाग लूँगा।'

श्रीकृष्ण ने फिर पूछा, 'किस पक्ष की ओर से लड़ोगे?'

'जो पक्ष कमजोर होकर हारने लगेगा, उसकी सहायता करूँगा।'

'धनुष-बाण से क्या होगा?'

'इसमें ऐसी शक्ति है कि एक तीर चलाने से वृक्ष के सब पत्तों में छेद हो जाएगा।'

कृष्ण इससे घबराए। सोचने लगे कि यह तो बहुत शक्तिशाली शत्रु साबित होगा। आखिर उन्होंने एक युक्ति निकाली। उससे बोले, 'तुम इतने शूरवीर हो, माँगने पर कुछ दान दोगे?'

टेसू महाराज बोले, 'माँगो, क्या माँगते हो?'

कृष्ण ने कहा, 'पहले वचन दो कि जो माँगूँगा वह दोगे।'

उन्होंने वचन दे दिया। श्रीकृष्ण ने उनका सिर माँग लिया। टेसू ने आह भरी। कृष्ण बोले, 'अब क्या प्रतिज्ञा पूरी करने में दुःख हो रहा है?' उसने कहा, 'और तो कोई दुःख नहीं। बस, मैं युद्ध का तमाशा देखना चाहता था, इसलिए कुछ बुरा लगा।' अंत में उसका सिर काटकर एक ऊँची जगह रख दिया गया, ताकि युद्ध को देख सके।

ब्राह्मण कालानूस की कथा

दूसरा युग वह है, जब ईसा मसीह से तीन सौ वर्ष पूर्व सिकंदर ने अपनी यूनानी सेना लेकर भारतवर्ष पर आक्रमण किया। एक जगह पर उसने हिंदू योगियों को देखा। उसने उन्हें बुला भेजा। जवाब मिला कि मिलने की कोई आवश्यकता नहीं। सिपाहियों ने तलवारें दिखाकर धमकी दी। वे चुपचाप बैठे रहे। सिकंदर के मन में बहुत तीव्र इच्छा हुई कि वह ज्ञान सिखाने के लिए किसी दार्शनिक को साथ ले जाए। बहुतेरा यत्न किया, कोई साथ जाने के लिए तैयार न होता था। अंत में कालानूस नामक एक व्यक्ति साथ चल पड़ा। ईरान की सीमा पर पहुँचकर उसने सिकंदर से प्रार्थना की कि 'मेरे लिए चिता तैयार की जाए, मैं इस शरीर को जला देना चाहता हूँ।' सिकंदर ने पूछा, 'क्या बात है?' उसने कहा, 'मेरी अवस्था अब

अस्सी वर्ष से अधिक हो गई। मुझे कभी ज्वर या कोई रोग नहीं हुआ। अब मुझे बुखार आया है, जिससे यह शरीर अपवित्र हो गया है और मैं इसे त्याग देना चाहता हूँ। सिकंदर ने सब प्रकार से यत्न किया और उसे समझाया कि अपना विचार बदल दे। परंतु जब वह नहीं माना तो चिता तैयार की गई। उसके हाथ में रत्न थे, जिन्हें वह चारों तरफ फेंकता जाता था। वह सीधा जाकर चिता पर चढ़ गया और उसे आग लगा दी।

कुमारिल भट्ट

कई शताब्दियाँ और बीत गईं। वैदिक धर्म को बौद्ध मत ने पीछे हटा दिया। एक राजा की लड़की रो रही थी और कह रही थी, 'क्या करूँ? किधर जाऊँ? कौन धर्म की रक्षा करेगा?' कुमारिल भट्ट नामक एक ब्राह्मण पास से गुजर रहा था। यह सुनकर वह बोला, 'हे राजपुत्री! मत रो। धर्म को क्या डर है, जब कुमारिल भट्ट पृथ्वी पर जीवित है!' कुमारिल भट्ट को बौद्धों के विरुद्ध कार्य करना था। वह उनके विद्यालय में दाखिल हो गए और उनके मत का अच्छी प्रकार अध्ययन किया। उसके पश्चात् उन्होंने अपना जीवन उनके मज़हब के खंडन और वेद की रक्षा में लगा दिया। आचार्य कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य दो बड़े नाम हैं, जिनके विषय में कहा जाता है कि उनके विद्याबल और प्रचार के द्वारा बौद्ध मत इस देश से एक प्रकार से निकाल दिया गया। आचार्य कुमारिल भट्ट के मन में सदा एक बात का दुःख रहता था कि उन्होंने बौद्धों को गुरु बनाकर एक प्रकार का धोखा किया। अपनी आत्मा के इस धब्बे को धोने के लिए वे प्रायश्चित्त करना चाहते थे। अपना कार्य पूर्ण करने के बाद उन्होंने यह निश्चय किया कि धान के भूसे मे जलकर प्राण दे दें। चावल के छिलके एकत्र किए, ढेर में बैठकर आग लगा दी। इस प्रकार उन्होंने शरीर को जला दिया, ताकि आत्मा पर धब्बा न रहे।

दिल्ली में मतिदास का बलिदान

और शताब्दियाँ बीत गईं। औरंगजेब का समय आया। हिंदू लोग अन्याय से तंग आ गए। कश्मीर के ब्राह्मणों पर अत्याचार और अन्याय की सीमा न रही। वे गुरु तेग बहादुर के पास सहायता के लिए गए। धन्य हैं वे परिवार, जिन्होंने सभी कष्ट झेले, किंतु सारा कश्मीर मुसलमान हो जाने के बावजूद यज्ञोपवीत और टीके की लाज रखी। गुरुजी ने कहा कि किसी महापुरुष के बलिदान से यह अन्याय दूर होगा। तेगबहादुर बोले—

बंधन पड़े और बल गयो कछु न होत उपाय।
कहो नानक अब ओट हर तुम ही हो सहाय॥

इस पर गुरु गोविंद सिंह बोल उठे—

'बंधन टूटे और बल हो यह सब ही होत उपाय।
सबकुछ तुमरे हाथ हैं तुम ही हो सहाय॥'

बादशाह के पास सूचना पहुँची कि एक गुरु को मुसलमान बना लेने से सब हिंदू मुसलमान हो जाएँगे। बादशाह ने गुरु को बुलवा भेजा। गुरु तेगबहादुर पहले ही उधर चल पड़े थे। लगभग पाँच सौ शिष्य (सिख) उनके साथ थे। कुछ दूर जाकर उन्होंने सबको लौटा दिया, केवल पाँच-सात रह गए। वे आगरा में पकड़े गए और दिल्ली में कैद कर दिए गए। उनके साथ एक ब्राह्मण भाई मतिदास थे। उनके पूर्वज बाबा परागा गुरु हरिगोविंद की सेना में जत्थेदार थे। बादशाह ने काजी लोग गुरु के पास भेजे। वे गुरु से प्रश्न करते थे, जिस पर मतिदास को कुछ जोश सा आ गया। उसने गुरु से कहा, 'यदि आप आज्ञा दें तो एक क्षण में बादशाही का नाश कर दूँ!' यह खबर बादशाह के पास पहुँची। बादशाह ने हुक्म दिया कि उस व्यक्ति के सिर पर आरा रखकर चीर दिया जाए। सिर पर आरा रखा गया। धीरे-धीरे शरीर के दो टुकड़े होने लगे। दोनों भागों से 'ब्रह्म' नाम की आवाज निकलती थी। उनकी आत्मा ब्रह्म में लीन हो गई। उनके लिए राजपाट की शोभा क्षण भर में नष्ट हो गई। यह एक ब्राह्मण था, जिसका दिल्ली नगर में सबसे पहला बलिदान हुआ।
□

ग्रंथकार तथा ग्रंथ-सूची

इस पुस्तक में जिन विचारकों और ग्रंथों के उल्लेख हैं उनमें से अनेक :वाले पाद टिप्पणों के रूप में दिए गए हैं। अधिक विस्तृत अध्ययन में रुचि खनेवाले पाठकों की सुविधा के लिए उन ग्रंथकारों और उनके प्रमुख ग्रंथों की नूची नीचे दी जा रही है—

पाश्चात्य लेखक व उनकी कृतियाँ

१. रिचर्ड फालचरबर्ग : ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी।

२. फ्रैंक थिल्बी : ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी।

३. एस. ई. फ्रास्ट : बेसिक टीचिंग्स ऑफ द ग्रेट फिलॉसफर्स।

४. डब्ल्यू.टी. जोन्स : ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी।

५. बेनट : अर्ली ग्रीक फिलॉसफी।

६. बर्कले : प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज।

७ ह्यूम : ट्रीटाइज् ऑन ह्यूमन नेचर।

८ कान्ट : क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन।

९ हेगल : एनसाइक्लोपीडिया ऑफ द फिलॉसोफिकल साइंसिज।

१० डब्ल्यू. टी. स्टेस : द फिलॉसफी ऑफ हेगल।

११. शॉपनहावर : द वर्ल्ड एज विल एंड आइडिया।

१२. स्पिनोजा : एथिक्स।

१३. हरबर्ट स्पेंसर : सिस्टम ऑफ सिंथेटिक फिलॉसफी।

१४. नीत्शे : दस स्पेक जरथुस्त्र।

१५. हेकल : द रिडल ऑफ दि यूनिवर्स।

१६. लॉक : ट्रीटाइजिज ऑन गवर्नमेंट।

१७. हाब्स : लेवायथान।

१८. बेंथम : थ्योरी ऑफ लेजिस्लेशन।

१९. मिल : यूटिलिटेरियनिज्म।

२०. कार्लाइल : सार्टर रिसार्टस तथा हीरो एंड हीरो वर्शिप।

२१. इमर्सन : ऐसेज।

२२. प्लेटो : रिपब्लिक, डायलॉग्स ऑफ प्लेटो।

२३. मत्सीनी : लाइफ एंड राइटिंग्स ऑफ

जोसेफ मज़ीनी।
२४. थोरो : वाल्डन।
२५. डार्विन : दि ओरिजिन ऑफ स्पीसीज।
२६. जेम्स : प्रेग्मेटिस्म, विल टु बिलीव, द वैरायटीज ऑफ रिलिजस एक्सपीरिएंस।
२७. फिश्टे : एड्रेसेज टु द जर्मन नेशन।
२८. पाइथागोरस।
२९. एनेक्सामेंडर।
३०. एंपीडाक्लीज (देखिए बेनट-अर्ली ग्रीक फिलॉसफी)।
३१. गिआरदिनो ब्रूनो (१५४८-१६००)—Spaccio della bestia trionfante.
३२. लेपलेस—Systeme du monde.
३३. हक्सले सायंस एंड क्रिश्चियन ट्रेडीशन।
३४. चार्ल्स लायल : प्रिंसिपल्ज ऑफ जियालोजी।
३५. बकल : हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन।
३६. बेकन : नोवम ऑर्गेनम्, ऐसेज।
३७. गिब्बन : डीक्लाइन एंड फॉल ऑफ रोमन एंपायर।
३८. जैकालियै : बाइबल इन इंडिया।
३९. डार्मस्टेटर : माइथॉलोजी ऑफ जेंद अवस्ता पर थीसिस।
४०. मैक्समिल्लर : सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट।
४१. रूसो : सोशल कांट्रैक्ट।

प्राच्य व अन्य

४२. शंकराचार्य।
४३. भर्तृहरि : नीतिशतक, वैराग्यशतक, शृंगारशतक।
४४. मनु : स्मृति।
४५. पतंजलि : योगसूत्र।
४६. तुलसीदास : रामचरितमानस।
४७. दयानंद : सत्यार्थप्रकाश।
४८. तिलक : गीता रहस्य।
४९. अरविंद : लाइफ डिवाइन।
५०. जलालुद्दीन रूमी : 'मस्नीव-ए-मा-नबी'।
५१. अलगजाली : ओपिनियंस ऑफ द फिलॉसफर्स।

ग्रंथ

१. वेद।
२. न्याय-दर्शन।
३. वैशेषिक-दर्शन।
४. योग-दर्शन।
५. सांख्य-दर्शन।
६. वेदांत-दर्शन।
७. मांडूक्य उपनिषद्।
८. ऐतरेय उपनिषद्।
९. छांदोग्य उपनिषद्।
१०. रामायण।
११. महाभारत।
१२. पुराण।
१३. अंजील (बाइबिल)।
१४. कुरान।
१५. तौरेत।

□□□